# आत्मन् की दिशा में

मुनि ज्ञान

प्रकाशक :
श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ
समता भवन, रामपुरिया मार्ग
बीकानेर (राजस्थान)

ग्रन्थ :

# आत्मन् की दिशा में

मुनि ज्ञान

प्रकाशक :
श्री अ० भा० साधुमार्गी जैन संघ
समता भवन, रामपुरिया मार्ग,
बीकानेर (राज०), ३३४००१.

मूल्य :
पच्चीस रुपये

मुद्रक :
जनवाणी प्रिंटर्स एण्ड पब्लिशर्स प्राइवेट लि०
५/७४, रवीन्द्र सरणी, कलकत्ता-७०० ००३.

## जन्म-जयन्ति के पावन प्रसंग पर

# समर्पण

तव सान्निध्य को पाकर मेरा
मन पंकज खिल जाता है,
हर्षोल्लसित मेरा मस्तक
चरणों में झुक जाता है।

नाना गुरु का वरद् हस्त पा
सदा सदा मैं जिया करूँ,
समता से आलोकित मुख का
सतत दर्श मैं किया करूँ।

समता विभूति गुरु नाना के
मैं चरणों में रहता हूँ,
मुक्त ज्ञान कण के लेखन को
सतत समर्पित करता हूँ।

—मुनि ज्ञान
१२-६-८३

पालियाद
(गुजरात)
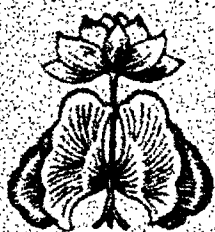
मर्यादा ही उत्तम आचरण का सुरक्षा-कवच है प्रभु महावीर का संदेश है कि आचरण की धारा सम्यक् ज्ञान के चट्टानी तटबंधों में ही मर्यादित रहनी चाहिये।

आचार्य गुरुदेव श्री गणेशीलालजी म० सा० ने श्रमण संस्कृति की सुस्थिति एवं उन्नयन के लिए 'शान्त क्रांति' का अभियान चलाया। इस अभियान को ओजस् प्रदान करना साधुवर्ग का दायित्व है। इसके लिए साधुवर्ग को जहाँ साधना के पथ पर अविचल रूप से आरूढ़ रहना है, वहीं अपनी साधनागत अनुभूतियों की अभिव्यक्ति द्वारा सामान्य जन के लिए सुदृढ़ साधना-सेतु का निर्माण भी करते चलना है। 'शांत क्रांति' आत्म साधना से ही परात्म साधना के उदय का अभियान है, जो आत्मपक्ष, परात्मपक्ष एवं परमात्म पक्ष तीनों को उजागर करने में सक्षम है। साधु एवं साध्वी समाज ने विगत बीस वर्षों में सम्यक् ज्ञानार्जन की दिशा में अच्छी दूरी तय की है। रथ बढ़ रहा है, पथ भी प्रशस्त हो रहा है।

—आचार्य श्री नानेश

# प्रकाशकीय

विश्व की समस्त संस्कृतियों में भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। इस भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता में भी निर्ग्रन्थ श्रमण संस्कृति को सर्वोच्च स्थान पर परिगणित करना, कोई अतिशयोक्ति नहीं है वल्कि सत्य तथ्य का प्रकटीकरण है।

निर्ग्रन्थ श्रमण सस्कृति भौतिकता से परे हटकर त्याग और वैराग्य की सुदृढ नींव पर खड़ी है। प्रभु महावीर की श्रमण-संस्कृति का विशुद्धता के साथ निर्वहन करने वाला श्रमण निर्ग्रन्थ जीवन की गहराइयों में उतर कर स्व-परहितार्थ आत्मस्वरूप को उजागर करने में समर्थ हो जाता है। महाप्रभु भगवान् महावीर की परम्परा में चलने वाला श्रमण-श्रमणी वर्ग महाव्रतों का विशुद्धता के साथ पालन करते हुए सम्यक् ज्ञानार्जन के साथ त्याग एवं तप के पथ पर निरन्तर आरोहण करता रहता है। उनका लघु से लघु परिलक्षित होने वाला नियम भी महान् आश्चर्योत्पादक होता है। अत्यन्त प्रसन्नता का विषय है कि आज भी महाप्रभु महावीर की निर्ग्रन्थ परम्परा विशुद्धता के साथ अक्षुण्ण रूप से प्रवहमान है। समता विभूति विद्वद्व शिरोमणि, जिन शासन नभोमणि, धर्मपाल प्रतिबोधक आचार्य प्रवर श्री १००८ श्री नाना लाल जी म० सा० उन्हीं महाप्रभु की परम्परा का अक्षरशः पालन करते हुए साधना पथ पर निरन्तर गति कर रहे हैं। चतुर्विध संघ इन महायोगी आचार्य प्रवर के सतत् सान्निध्य को पाकर निरन्तर प्रगति के पथ पर गतिमान है। जिस प्रकार समुद्र में नदियों का समावेश हो जाता है, उसी प्रकार आचार्य प्रवर रूपी महासमुद्र में सभी विशिष्ट गुणों का समावेश है। संयमीय जीवन में अंशतः भी कटौती करना आपश्री को कतई अभीष्ट नहीं है।

आपश्री के ही अथक परिश्रम का परिणाम है कि आपके सतत

सान्निव्य को पाकर आज श्रमण-श्रमणी वर्ग निरन्तर साधना के क्षेत्र में आगे बढ़ता जारहा है, सम्यक् ज्ञानार्जन की दिशा में अच्छी प्रगति कर रहा है ।

प्रस्तुत 'आत्मन् की दिशा में' नामक कृति का लेखन आचार्य प्रवर के ही अन्तेवासी सुशिष्य विद्वद्वर्य श्री ज्ञान मुनि जी म० सा० ने किया है। आपने अपने साधनागत विचारों को लिपि बद्ध कर स्व के साथ पर का भी उपकार किया है । प्रस्तुत ग्रंथ में मुनि श्री ने विभिन्न पहलुओं को स्पर्शकर उन्हें स्पष्ट करने का सराहनीय कार्य किया है । यह आचार्य प्रवर की दीर्घ दृष्टि का ही परिणाम है कि मुनि श्री को लगभग १३ वर्ष की अल्पवय में दीक्षित कर साधना के क्षेत्र में आगे बढ़ाया । मुनि श्री ने संयम लेकर पांच वर्ष की अल्पावधि में ही साधुमार्गी संघ की सभी परीक्षाओं को अच्छे अंकों में उत्तीर्ण किया है ।

हमारा संघ सत्साहित्य एवं जीवन-विकासोन्मुखी संकृतियों के प्रकाशन के लिए कृत संकल्प है ।

शान्त क्रान्ति के अग्रदूत स्व० आचार्य श्री गणेशी लाल जी म० सा० की स्मृति में श्री अ० भा० साधुमार्गी जैन संघ ने श्री गणेश जैन ज्ञान भण्डार की स्थापना की थी । ज्ञान भण्डार में अनेकानेक प्रकाशित एवं हस्तलिखित ग्रन्थों का संग्रह हुआ है । उनमें हस्त-लिखित अप्रकाशित ग्रन्थों का संचयन कर श्री अ० भा० साधुमार्गी जैन साहित्य समिति उनका प्रकाशन करती रही है । इसी संकल्प की क्रियान्विति में प्रस्तुत कृति को भी श्री गणेश जैन ज्ञान भण्डार से प्राप्त कर प्रकाशित करने में संघ हार्दिक सन्तुष्टि का अनुभव कर रहा है ।

प्रस्तुत पुस्तक के हमारे अर्थ सहयोगी समाज सेवी धर्मनिष्ठ उदारमना सुश्रावक श्री भंवर लाल जी सा० सेठिया हैं । जिन्होंने पुस्तक का पूर्ण अर्थ व्यय उठाया है । आप वैसे मूलतः बीकानेर

के निवासी हैं, किन्तु व्यवसाय की दृष्टि से कई वर्षों से कलकत्ता में निवास कर रहे हैं। हम इनके आभारी हैं।

प्रस्तुत पुस्तक का प्रकाशन कलकत्ता में ही होने से प्रकाशन सम्बन्धी कार्यों में श्री भूपराज जी जैन ने महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है, एतदर्थ श्री भूपराज जी जैन धन्यवाद के पात्र हैं।

**गुमानमल चोरडिया**
संयोजक
अ० भा० साधुमार्गी जैन साहित्य समिति

# अन्तर्दर्शन

अपने निजत्व के परिवेश में जीये गए क्षणों को हम अनुभूति कहते हैं। अनुभूति में उस चिन्तन का समावेश होता है, जो किसी क्षण अपने मौलिक रूप में जीवन्त रहा हो। इसीलिये अनुभूति का सीधा और गहरा प्रभाव पड़ता है--निज और पर दोनों पर।

किन्तु उन अनुभूतिगत क्षणों को उट्टंकित अथवा आलेखित कर पाना सहज नहीं है। अनुभूति गत अनुचिन्तन इतना शीघ्रगामी होता है कि उसके एक छोर को पकड़ने तक दूसरा छोर हाथ से फिसल जाता है। अनुभूति का आलेखन की दृष्टि से पकड़ पाना उतना ही कठिन है जितना अपनी प्रतिच्छाया का पकड़ पाना। इसीलिये कहा जाता रहा है कि अनुभूति को जीया जाता है, जाना अथवा जनाया नहीं जाता।

तथापि कुछ अनुभूतियां इतनी संवेदक एवं संवेधक होती हैं कि उनका मानस पर चिर स्थाई प्रभाव अंकित हो जाता है और वे ही प्रबुद्ध चेता व्यक्तियों को आलेखन, उट्टंकन की प्रेरणा प्रदान करती हैं।

इस आलेखन की विधा को ही साहित्यकारों ने 'चिन्तन की डायरी', 'चिन्तन के क्षण', 'चिन्तन के स्वर', 'मुक्त चिन्तन', 'अनुभूति का आलोक' आदि अभिधा प्रदान की है।

चूंकि लिपिबद्धता की इस विधा में अनुभूतिगत उन जीवन्त क्षणों का उट्टंकन होता है जो स्वयं के मनस् में अमिट प्रभाव अंकित कर चुके होते हैं, अतःउसका आम पाठक पर सीधा प्रभाव होना सहज है।

वैसे जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में चिन्तन के वे उर्वर क्षण उपस्थित होते हैं जो किसी-न-किसी रूप में अपना प्रभाव अंकित कर जाते हैं, किन्तु आत्म-साधना के पावन पथ पर गतिशील साधकों के साधनापोषी चिन्तन क्षणों का महत्व अपने आप में एक विशिष्ट स्थान रखता है।

प्रस्तुत कृति में कुछ इसी प्रकार के क्षणों का उट्टंकन है। नव नवोन्मेषी प्रतिभा के धनी उदीयमान व्यक्तित्व, प्रखर व्याख्याता श्री ज्ञान मुनि जी ने समय-समय पर अन्तः स्फूर्त चिन्तन कणों को लिपिबद्धता का रूप प्रदान किया है। उनके ये चिन्तन कण विविध आयामी हैं और जीवन के विभिन्न मूल्यों को एक स्वस्थ दिशा प्रदान करते हैं।

एक ओर ज्ञान-विज्ञान, आत्मा-कर्म, जीवन-दर्शन, विचार-आचार, साधना-साधक, संस्कार-परिष्कार, उन्नति-अवनति, आराधना-विराधना, श्रद्धा-भक्ति

आदि अध्यात्म पोषी विषयों पर मुनिश्री की कलम चली है तो दूसरी ओर उन्होंने जीवन के व्यावहारिक पक्ष को भी अछूता नहीं छोड़ा है--परिवार, समाज, बाल-संस्कार, युवा पीढ़ी और धर्म, राष्ट्रीय चरित्र, राष्ट्र धर्म, चारित्र निर्माण, सन्तति कर्त्तव्य एवं अभिभावक कर्त्तव्य जैसे युग सापेक्ष विषयों पर भी एक सशक्त विवेचन प्रस्तुत किया है ।

विद्वद्वर्य श्री ज्ञान मुनिजी समता दर्शन प्रणेता, धर्मपाल प्रतिबोधक, समीक्षण ध्यान योगी, जिन शासन प्रद्योतक आचार्य प्रवर श्री नानालाल जी म० सा० के प्रतिभाशाली सुशिष्य हैं । आपने यौवन के विस्फोट के पूर्व ही १३ वर्ष की अल्पवय में साधना में पद चरण किया और अपने सम्पूर्ण शक्ति स्रोतों को संयम साधना के साथ ज्ञानार्जन के प्रति सर्वतोभावेन समर्पित कर दिया है । आपका व्यक्तित्व साधना एवं साधना परक साहित्य सृजन का व्यक्तित्व है । आपकी साधना अपने आराध्य देव के पदानुचरण की साधना है । आपकी उन्मेषशील प्रज्ञा ने साहित्य सृजन के क्षेत्र में पद चरण किया है और कुछ बहुमूल्य देन समाज के समक्ष प्रस्तुत की है । आपकी बहुमुखी प्रतिभा से समाज को बहुत अभीप्साएँ हैं ।

चूंकि मुनि श्री को अपने आराध्य देव आचार्य प्रवर का सुदीर्घ सान्निध्य प्राप्त हुआ है अतः आपके चिन्तन में आचार्य प्रवर के उर्जस्विल चिन्तन की सौरभ होना स्वाभाविक है जैसा कि मुनि श्री ने अपने अभिलेख 'स्वतः स्फूर्त' में स्पष्ट किया है--"मेरा यह प्रयास उन्हीं अनन्त आराध्य देव की प्रखर ज्ञान रश्मियों का प्रतिबिम्ब है ।"

इस स्थिति में इन चिन्तन कणों का महत्व स्वतः शतगुणित हो जाता है ।

प्रस्तुत कृति को मुनि श्री ने 'आत्मन् की दिशा में' अभिधा प्रदान की है । चूंकि कृति के अनेक अभिलेख व्यावहारिक जीवन को स्पष्ट करते हुए भी अधिसंख्य अभिलेखों में आत्म जागरण के सन्देश प्रस्फुटित हुए हैं, जो साधक पाठकों को आत्मा की दिशा में गति प्रदान करते हैं अतः प्रस्तुत संज्ञा 'आत्मन् की दिशा में' नितान्त सार्थक सिद्ध होती है ।

निष्कर्ष में मुनि श्री द्वारा अपने भावों की प्राञ्जल अभिव्यक्ति से साधक चेतनाओं को साधना की सुमधुर--सशक्त दिशा प्राप्त हो और वे आत्म-साधना में गतिशील हों । इन्हीं शुभाकांक्षाओं के साथ--

—शान्ति मुनि

बोरिवली (पूर्व) बम्बई
महापर्व संवत्सरी
दिनांक :--३०-८-८४

# स्वतः स्फूर्त

दुनियाँ में नया कुछ है ही नहीं। जो विचार आज किसी व्यक्ति ने कहे हैं, वे वर्षों पूर्व किसी के द्वारा व्यक्त हुए हैं। प्राचीन हो जाने से उन पर अनुभूति परक नवीनता की छाप लगा दी जाती है।

संस्कृत साहित्य में किसी ने कहा है--"वाणोच्छिष्टं जगत् सर्वम्" यह सम्पूर्ण साहित्य-जगत वाण के द्वारा झूठा किया हुआ है। समग्र साहित्य को कवि वाण के द्वारा अनुवर्तित माना जाता है। दुनिया का कोई भी साहित्य नया नहीं है। जिन सिद्धान्तों की आज विवेचना एवं प्ररूपणा होती है, उन्हीं सिद्धान्तों की पूर्व में विवेचना हो चुकी होती है, किन्तु वह नई प्रतीत होने से हम उसके कर्त्ता को उसके साथ संयोजित कर देते हैं।

तीर्थंकर धर्म देशना स्वतः स्फूर्त होकर देते हैं। वे किसी का उपदेश नहीं सुनते। किसी का अनुवर्तन नहीं करते। अपनी अन्तःचेतना को ही लोकोत्तर ज्ञान द्वारा जागृत कर धर्म की परिभाषा विवेचित करते हैं। यह स्वतः जागरण भी तीर्थंकर भगवन्तों का प्रायः समान होता है। जो धर्म की परिभाषा प्रथम तीर्थंकर ने की थी वही अन्तिम ने और वही परिभाषा मध्य के बाईस तीर्थंकरों ने भी की है। यद्यपि किसी भी तीर्थंकर ने किसी का अनुवर्तन नहीं किया तथापि जब ज्ञान की लोकोत्तर जागरणा एक समान होती है, तो उससे प्रभासित होने वाले धर्म का स्वरूप भी एक समान होता है।

अन्न को खानेवाला हर सुज्ञ व्यक्ति उसकी विवेचना क्षुधा उपशांति के रूप में ही करेगा, कोई भी उसे क्षुधा वर्धक नहीं मानता। चाहे उनकी विवेचना स्वतः स्फूर्त हो या किसी के अनुकरण से। धूरि के आधार से चक्र घूमता है, चाहे वह ऊपर घुमे या नीचे। यथार्थता के परिप्रेक्ष्य में चिन्तन प्रवाह चाहे किसी का भी क्यों न प्रवाहित हो, विवेचना के प्रकारों में अन्तर आ सकता है, किन्तु मौलिकता अपरिवर्तित रहती है। प्रस्तुत ग्रंन्थ में भी विषय को स्पष्ट करने के लिये कहीं-कहीं प्रचलित रूपकों का सहारा लिया गया है।

जीवन-दर्पण में प्रतिबिम्बित होनेवाले चिन्तन के कुछेक रूपों को लिपिबद्ध करने का प्रयास किया है। जीवन के शाश्वत सत्य की विवेचना असंभव नहीं, तो दुःसाध्य अवश्य है। यही दुःसाध्य कार्य सम्पादित करने का मुझ अल्पज्ञ साधक का संकल्प गुरु चरणों का सहज कृपा प्रसाद है।

संयम की पगडंडी पर चलते हुए साधक को कभी फूल मिलते हैं तो कभी कांटे। फूलों की सुवास और कांटों की चुभन साधक को एक विचित्र प्रकार

का अनुभव करा देती है। सुवास देने वाले फूलों एवं चुभनेवाले कांटों को उसी रूप में समझना तथा तदनुसार विवेचित करना दुःशक्य है। उनकी यथार्थ विवेचना के लिए तीक्ष्ण एवं प्रखर प्रज्ञा ही सक्षम हो सकती है।

समता विभूति, विद्वद् शिरोमणि परम आराध्य गुरुदेव आचार्य श्री नानालालजी म. सा. उन फूल और कांटों को यथातथ्य रूप में समझने तथा विवेचित करने के सहज अभ्यासी रहे हैं। आचार्य प्रवर की प्रखर मेधा ने जीवन के शाश्वत सत्यों को खोजने का आश्चर्यजनक प्रयास किया है। उस प्रयास के गर्भ से आज की ज्वलन्त समस्याओं के मौलिक समाधान निसृत हुए हैं। इसी चिन्तन से विश्व में समत्व शांति का भव्य प्रसंग उपस्थित किया जा सकता है। केवल आवश्यकता है आचार्य श्री जी के विचारों को समझने की।

आचार्य प्रवर के इस उन्मुक्त चिन्तन ने उनके शिष्य-शिष्याओं के परिकर को भी प्रभावित किया है। उनके विराट तेज पुंज को पाकर अनेकानेक दीपक जगमगा उठे हैं। मुझे इस बात का अनिर्वचनीय अन्तस्तोष है कि मैं ऐसे महान् गुरु के शिष्यत्व को पाकर अज्ञानांधकार से भरी आत्मा में ज्ञान के दीपक को प्रज्वलित करने हेतु अहर्निश यत्नशील हूं।

मेरा यह प्रयास उन्हीं अनन्त श्री आराध्य देव की प्रखर ज्ञान रश्मियों का प्रतिविम्ब है, जिन्होंने १२ वर्ष की अल्पायु में मेरे ऊपर अपना समर्थ वरदहस्त रख कर पतनोन्मुख जीवन को ऊर्ध्वमुखी बनाया। इस अनन्त उपकार से मैं कभी उऋण नहीं हो सकता। इसी अनन्त उपकार के प्रति समर्पित होता हुआ यह लघु प्रयास उन्हीं आचार्य देव के श्री चरणों में समर्पित करता हूँ।

मुनि ज्ञान

८-५-८३.
शनिवार
लीम्बडी (सौराष्ट्र)

# विषयानुक्रमणिका

पृष्ठ संख्या

पृष्ठ संख्या

# धर्म की शाश्वत सत्ता

आज के युग में धर्म भी विविध रूपों में सामने आ रहा है। बौद्ध धर्म, वैदिक धर्म, हिन्दू धर्म, मुस्लिम धर्म, ईसाई धर्म, जैन धर्म आदि।

सभी धर्मानुयायी यह दावा करते हैं कि सबसे प्राचीन और शाश्वत् धर्म उनका है। उनके धर्म के आचरण से सुख की प्राप्ति होगी, मानव का कल्याण होगा। इन धर्मों की विविधता में मानव किस धर्म को स्वीकार करे? किसको अपनाए? यह एक जटिल समस्या आज खड़ी हो गई है। यह एक ज्वलन्त प्रश्न है कि किसका धर्म अनादि, अनन्त एवं शाश्वत है? किसे अपनाने से शाश्वत सुख की प्राप्ति हो सकती है?

धर्मानुयायियों के बीच इस संघर्ष को देखकर जनमानस भ्रमित बनता जा रहा है और आज की युवा पीढ़ी तो प्रायः धर्म से विमुख हो रही है। उसे धर्म के नाम से ही घृणा होने लगी है।

हमें किस धर्म को अपनाना है? कौन-सा उपयोगी है? इसके लिये नीर-क्षीर की विवेक बुद्धि से विचार करना होगा। मस्तिष्क में चिन्तन-क्षमता जागृत करनी होगी।

विश्व का प्रत्येक प्राणी सुखी जीवन चाहता है, रक्षण चाहता है। मरना किसी को रुचिकर नहीं है। "सव्वेसिं जीवियं पियं" का सिद्धान्त प्राणी के रग-रग में समाया हुआ है। एक व्यक्ति अगर किसी को मार रहा है, तो मार खानेवाले व्यक्ति की आत्मा कराहेगी, दुःखी बनेगी। मारने वाले के प्रति भयंकर विद्वेष की भावना जागृत हो उठेगी, क्योंकि उसे मरना पसन्द नहीं है। उस समय कोई दयालु व्यक्ति आकर मरनेवाले व्यक्ति को बचा लेता है, मारनेवाले को हटा देता है, तो जो मौत के मुंह से बचा है उसके मन में रक्षा करनेवाले के प्रति कृतज्ञता एवं प्रमोद के भाव जागृत होंगे, वह बहुत खुश होगा

क्योंकि उसकी आत्मा को रक्षण रुचिकर है। आत्मा का गुण ही रक्षण प्रिय/जीवन प्रिय है।

इसी प्रकार मनुष्य की अन्तरंग आवाज सत्य के लिये मुखरित होती है। व्यक्ति का सहज स्वभाव सत्य बोलने का है। आत्मा कभी झूठ नहीं बोलना चाहती।

इसी प्रकार अचौर्य, ब्रह्मचर्य, आकिंचन्य भी आत्मा के सहज गुण हैं।

चोरी तथा अब्रह्मचर्य सेवन भी मानव की आत्मिक शक्ति को क्षीण करता है। परिग्रह व्यक्ति को भौतिक जंजाल में फंसा कर, मकड़ी जाल में उलझने की तरह, दुःखी बना देता है।

अतः स्पष्ट है कि अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह— ये आत्मा के गुण हैं। गुण गुणी से अलग नहीं रहता, इनका अविछिन्न/अभिन्न संबंध होता है। गुणी जब से चला आ रहा है, तब ही से गुण भी चले आ रहे हैं। अग्नि जब से है तभी से उसका गुण उष्णता भी है। स्वर्ण जब से है, तभी से उसका गुण पीलापन/मुलायमपन/चमक चला आ रहा है।

इसी प्रकार आत्मा जब से है तभी से उसके गुण अहिंसादि चले आ रहे हैं, जब आत्मा अनादि है तो उसके गुण भी अनादि काल से चले आ रहे हैं।

आत्मा शाश्वत रूप से सदा विद्यमान है तो उसके गुण भी शाश्वत सत्ता सम्पन्न हैं। जैनधर्म उन्हीं गुणों को ही धर्म के रूप में स्वीकार करता है।

जैन धर्म के ये ही पाँचो मुख्य सिद्धान्त हैं—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य व अपरिग्रह। जितना सूक्ष्म, तार्किक विश्लेषण इनका जैन धर्म में प्राप्त होता है, उतना किसी भी अन्य धर्म में उपलब्ध नहीं है।

जब आत्मा और आत्मा के गुण शाश्वत रूप से विद्यमान हैं तो उन्हीं गुणों को धर्म के रूप में माननेवाला धर्म भी शाश्वत एवं अनादि काल से चला आ रहा है। यह स्वयमेव/स्वतः सिद्ध है। □

# धर्म और सम्प्रदाय

बिना आधार के आधेय नहीं टिक सकता है। आधेय के लिये आधार की अनिवार्य आवश्यकता है।

धर्म एक आधेय है, सम्प्रदाय उसका आधार है।

धर्म की व्यापकता आकाश की तरह सुविस्तृत (विशाल) है। वह विश्व के हर कोने में सर्वत्र बिखरा हुआ है। संसार का एक भी कोना ऐसा नहीं है, जहाँ धर्म की स्थिति नहीं रही हुई हो।

धर्म की परिभाषा करते हुए व्याख्याकार ने कहा है :—

"वत्थु सहावो धम्मो।"

वस्तु का स्वभाव ही धर्म है। जहाँ वस्तु है वहाँ उसका स्वभाव भी है। दोनों में अविनाभाव संबंध है—जिस प्रकार अग्नि से उष्णता, सूर्य से तेजस्विता एवं जल से शीतलता का संबंध है।

अजीव, जड़ तत्वों के स्वभाव से निर्मित और विध्वंश से युक्त होते हुए भी जड़त्व से ध्रुव है। चैतन्य का स्वभाव उत्पाद और व्यय से संबंधित होते हुए भी चैतन्यत्व की शाश्वत सत्ता से सम्पन्न है। इस वस्तु-स्वभाव को ही धर्म की संज्ञा से अभिव्यंजित किया जाता है। इस व्यापकता की अभिव्यक्ति किसी आधार से ही हो सकती है और वह आधार है सम्प्रदाय। सम्यक् विधि से प्रकर्षता को लिये हुए धर्म की आत्मिक अभिव्यक्ति को सम्प्रदाय कहते हैं।

यद्यपि धर्म को किसी वर्ग विशेष में सीमित नहीं किया जा सकता किन्तु भव्यात्माओं के अन्तरालोक को आलोकित करने के लिये यथा-शक्ति अपनाया जा सकता है।

सूर्य की तेजस्विता और चन्द्रमा की शीतल चाँदनी किसी वर्ग विशेष से आबद्ध नहीं होती। वह तो सबके लिये समान रूप से विद्यमान रहती है। कमल उस प्रकाश को पाकर विकसित हो जाता है तो कुमुदिनी पुष्प उस प्रकाश को पाकर सिमट जाता है।

अग जग की शोभा निखरने लगती है तो रजनीपति (उल्लू) सिकुड़ने लगता है—तेजहीन हो जाता है किन्तु भास्कर का इसमें कोई दोष नहीं है। आधार की विभिन्नता ही विविध विधाओं को उत्पन्न करती हैं।

इसी प्रकार धर्म की ज्योति अखिल विश्व में विकीर्ण हो रही है। यह ज्योति सबके लिये समान रूप से प्रकाशमान है। अन्तर है तो विभिन्न आधारों में। दूसरे अर्थों में जिसके द्वारा इस ज्योति को सम्यक् प्रकार से ग्रहण कर भव्यात्माओं का अज्ञानान्धकार दूर किया जाता है, उसे सम्प्रदाय कहते हैं।

दो शब्दों में कहा जाय तो धर्म एक विशुद्ध व्यापकता के तुल्य हवा है तो सिलेण्डर में भरी आक्सीजन हवा एक सम्प्रदाय के रूप में है जो कर्मों के रोग को दूर कर आत्मिक स्वरूप को अभिव्यक्त करने में अनिवार्य सहयोगी बनती है। □

आज जेन्टलमेन अपनी शान दिखा रहा है।
मुंह को लाल करने के लिये पान चबा रहा है।
भौतिकता की चकाचौंध में फंसकर वह—
अपने आप को दुःख का मेहमान बना रहा है।।

# आधार-आधेय

विना आधार के आधेय नहीं टिक सकता। आधेय वस्तु को यथावत् कायम रखने के लिये आधार को तदनुरूप योग्यता संपन्न होना आवश्यक है। जिस प्रकार उष्ण पेय को नियत काल पर्यन्त उष्ण रखने के लिये वैसी योग्यता वाले थर्मस-फ्लास्क का होना आवश्यक है। फ्लास्क में कुछ घण्टों तक उस दूध को यथारूप रखने की योग्यता होती है। दूध को उष्ण रखने के लिये पात्र योग्यता वाला नहीं हो तो दूध की उष्णता कायम नहीं रखी जा सकती, बल्कि अन्य पात्र में रखने से विकृत स्थिति बन जाती है।

इसी प्रकार धर्म की पवित्रता भी पवित्रता के रूप में तभी रह सकती है जब उसका आधार मात्र किंवा ग्राहक योग्य हो। अगर धारक में योग्यता नहीं है तो धर्म की पवित्रता भी विकृत बन जाती है। एतदर्थ धर्म को तदनुरूप कायम रखने वाले सम्प्रदाय ही धर्मरूप आधेय के योग्य आधार हो सकते हैं।

जिस सम्प्रदाय, पंथ, गण किंवा गच्छ में जिनेश्वर देव के सिद्धान्तों से विपरीत मनोकल्पित मिथ्या आग्रह है, राग-द्वेष का पाइजन (जहर) भरा है, सैद्धान्तिक एकता की जहाँ रिक्तता है, ईर्ष्या, द्वन्द्व, विग्रह की परिपूर्णता है—उसमें धर्म की पवित्रता कदापि अक्षुण्ण रूप में नहीं रह सकती। उसमें तो विकृतियाँ घर कर जाती हैं, धर्म के नाम पर अधर्म का बोलबाला होने लगता है। वह अवस्था तो ऐसी बनती है जिस प्रकार कीचड़युक्त सरोवर में निर्मल पानी डालना। चाहे कितना ही निर्मल पानी उस हौज (सरोवर) में प्रक्षेपित किया जाय, पानी में निर्मलता कदापि नहीं रह सकती। सारा पानी कीचड़, गन्दा बन जाता है, क्योंकि आधेय की निर्मलता होते हुए भी आधार शुद्ध नहीं है।

इसी प्रकार धर्म पवित्र, निर्मल होते हुए भी यदि सम्प्रदाय, गण, पंथ, संघ, गच्छ की तद्योग्य शुद्ध पात्रता नहीं होती है तो धर्म भी साधक के स्थान पर घातक बन जाता है। सम्प्रदाय आदि घातक तभी बनते हैं, जब उसके अन्दर मनोकल्पित मिथ्या धारणाओं का समावेश हो जाता है। □

आहार करने पर निहार भी होता है।
शयन करने पर जागरण भी होता है।
किसके पीछे इठला रहे हो पुरुषो!
संयोग होने पर वियोग भी होता है॥

# क्रोध का उत्पादक : दर्प

क्रोध के विषय में अनेक व्यक्ति चर्चा करते हुए मिलते हैं और कहते हैं कि क्रोध बहुत बुरा है, चाण्डाल है। कभी भी क्रोध नहीं करना चाहिये। आज वैज्ञानिक जगत ने भी क्रोध को शरीर व मस्तिष्क के ज्ञान तन्तुओं के लिये बहुत घातक सिद्ध किया है फिर भी क्रोध नहीं छूटता।

आखिर इसके मूल में कारण क्या है? जब तक कारण की अन्वेषणा नहीं होती, तब तक कार्य संपादित नहीं हो सकता। इसी प्रकार क्रोध उत्पत्ति के मूल कारण की जब तक खोज नहीं हो पाती, तब तक क्रोध को हटाया नहीं जा सकता।

गहराई से चिन्तन करने पर ज्ञात होता है कि क्रोध का मूल कारण दर्प है, अभिमान है। अभिमान पर थोड़ी-सी चोट लगती है कि मानव का क्रोधरूपी ज्वालामुखी फूट पड़ता है।

उदाहरण के रूप में—चलते हुए व्यक्ति ने किसी बैठे हुए व्यक्ति के ठोकर लगादी अथवा लग गई। बस बैठे हुए व्यक्ति का क्रोध भड़क उठा—क्रोध का भूत सवार हो गया। फलस्वरूप मुँह से अपशब्दों की बौछारें होने लगी। क्या तुम्हें दिखता नहीं है? आँखें फूट गई हैं कि बैठे हुए व्यक्ति के ठोकर लगाकर चलता है, आदि-आदि न जाने कितने-कितने व्यंग बाण बरसने लग जाते हैं।

किसी व्यक्ति के द्वारा थोड़ी-सी अपनी निन्दा सुनने को मिली कि सुनते ही अभिमान पर चोट लगी और क्रोधरूपी भुजंग फन फैलाये खड़ा हो गया। अतः क्रोध की उत्पत्ति दर्प (अभिमान) से होती है।

मानव अपने अभिमान पर लगी चोट को सहन नहीं कर पाता क्योंकि वह उसे अपना स्वाभिमान-हनन समझता है। व्यक्ति को स्वाभिमानी होना चाहिये, यह उसकी धारणा होती है। परन्तु वह

यह नहीं समझ पाता कि स्वाभिमान का वास्तविक अर्थ क्या है ? स्वाभिमान किसे कहते हैं ? जरा इस पर भी कुछ चिन्तन कर लें।

स्व=अपना—अभिमान=दर्प। अपना अभिमान स्वाभिमान है। अपनी कौनसी वस्तु है जिस पर इतना अभिमान किया जाय। क्या धन, दौलत, परिवार, मकान अपने हैं ? नहीं। क्या शरीर अपना है ? नहीं। तो फिर किस पर अभिमान किया जाय ? किसको अपना माना जाय ? किसी को नहीं। इसीलिये भगवान महावीर ने धन-दौलत, परिवार, मकान, राज्य-वैभव सबका परित्याग कर दिया। यही नहीं शरीर से भी ममत्व हटा लिया। साधना के क्षेत्र में चलते हुए उन्हें अनेक व्यक्तियों ने अपशब्द कहे, परीषह-उपसर्ग दिये, तथापि क्रोध आने की बात तो दूर रही, उनके प्रति मन में असद्विचार भी जागृत नहीं हुए। गौतम बुद्ध को भी अनभिज्ञ जनता ने अनेक कष्ट दिये, अपशब्द कहे, किन्तु वे हंसते ही रहे। वास्तव में अभिमान शरीर पर नहीं, अपितु आत्मा पर होना चाहिये। मेरी आत्मा की जो अवमानना करे, उसके प्रति तिरस्कार के भाव जागृत होने चाहिये। उन्हें हटाने के प्रयत्न किये जाना चाहिये। आत्मा को तिरस्कृत करने वाली संसार की बाहर दिखाई देने वाली कोई वस्तु नहीं है। वह तो अन्तरंग में ही विद्यमान है।

मानव को इस प्रकार सोचना चाहिये कि मैं जड़ या पौद्गलिक नहीं हूं, चैतन्य हूं, किन्तु कर्म ने मेरे चैतन्य स्वरूप को ढक रखा है। मैं अमूर्त हूं किन्तु कर्म ने मुझे मूर्तिमान बना रखा है। मैं अनन्त-ज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख व अनन्तशक्ति सम्पन्न हूं किन्तु कर्म ने मेरी इन शक्तियों को विलुप्त प्रायः कर रखा है। मेरे वीतरागी स्वभाव को भी कर्म ने राग-द्वेष से आपूरित कर रखा है। फलस्वरूप मेरे अरूपी, अजर, अमर, निरंजन, निर्विकार स्वरूप को वह संसार में भटका रहा है, यह मेरा घोर अपमान है। कर्म के इस स्वरूप को समझने से ही अभिमान के स्थान पर सच्चा स्वात्माभिमान जागृत होगा।

उसी को जागृत करने के लिये अनन्त तीर्थंकरों व ऋषि-महर्षियों

न अथक साधना की थी। मुझे भी उसी साधना-विधि पर अविरल-रूप से बढ़ना है और कर्मसमूह को क्षत-विक्षत करना है। अभिमान, छल, दम्भ, क्रोधादि उसके परिवार जन हैं। ऐसी स्थिति में स्वयमेव दर्प शान्त होता चला जायेगा। दर्प की उपशान्ति पर क्रोध भी नहीं टिक पाएगा। भगवान महावीर इसीलिए सदा सौम्य स्वभावी थे। उन्होंने दर्प का नाश कर दिया था। देहाभिमान छोड़ दिया था। हमें भी यदि क्रोध के फण को कुचलना है, तो दर्प के स्वरूप को समझ कर तदनुरूप आचरण करना होगा। □

सर्जन में जितना समय लगता है उतना विसर्जन में नहीं।
निर्माण में जितना समय लगता है उतना विध्वंस में नहीं॥
जीवन के उलझे हुए पहलुओं को समझो चिन्तको!
उत्थान में जितना समय लगता है उतना पतन में नहीं॥

# जन्ममेव-मृत्यु

जव से मानव ने इस पृथ्वी पर जन्म लिया है तभी से मृत्यु प्रारम्भ हो चुकी है। जन्म और मृत्यु का अविछिन्न संबंध है। जिसने जन्म लिया, उसकी मृत्यु सुनिश्चित है। मनुष्य जितनी आयुष्य वाँधकर आया है। जन्म लेने के वाद जितना समय व्यतीत हुआ, उतनी उसकी आयुष्य कम हो जाती है। एक समय वीतते ही मनुष्य की एक समय की आयुष्य कम हो जाती है। इसीलिये जन्म के साथ ही उसकी मृत्यु भी निरन्तर हो रही है। आज का व्यक्ति यह समझ कर खुश होता है कि मैं इतने वर्ष का हो गया हूं—जन्मोत्सव (वर्थ डे) मना रहा है किन्तु यह नहीं सोच पाता कि मेरी इतने वर्ष की आयु कम हो गई। सिद्धान्त की भाषा में इस मृत्यु को आवीचिक मरण कहा है।

संसार का कोई भी प्राणी मृत्यु नहीं चाहता, सभी जीना चाहते हैं। किसी को यह कह दिया जाय कि तुम्हारी मृत्यु आज से सातवें दिन हो जायगी तो उस व्यक्ति का उसी क्षण से खाना-पीना, ऐशो-आराम सव कुछ छूट जायेगा। पाप करने की ओर भी उसका मन नहीं जाएगा। किन्तु वह यह नहीं समझ पा रहा है कि उसकी मृत्यु सात दिन वाद नहीं प्रतिदिन, प्रति समय, प्रतिपल हो रही है। निश्चित रूप से एक दिन ऐसा आयेगा कि जव उसकी आयु सर्वथा रूप से नष्ट हो जायगी और उसे इस शरीर को छोड़ कर भवान्तर में गमन करने के लिए चल पड़ना होगा।

जन्म और मृत्यु के इस झूले में झूलने वाली इस आत्मा का परिष्कार तभी हो सकता है जव वह जन्म और मृत्यु को अच्छी तरह से समझ ले। □

# सम्मान पाने के लिये सम्मान देना होगा

जगत के मानवों में यह भावना होती है कि अग-जग के प्राणी उसका सम्मान करें, सत्कार करें। 'मैं सबका सम्माननीय बनूं', यह भावना सामान्य व्यक्ति में ही नहीं अपितु विशिष्ट साधनाशील, मुक्ति की आराधना करने वाले साधकों में भी अछूती नहीं रहती।

इसीलिये शास्त्रकारों ने संज्वलनमान की स्थिति को नवें गुण स्थान पर्यन्त स्वीकार किया है।

सम्माननीय बनने के लिये मानव विविध विधियों को अपनाता है। पूंजीपति अधिकाधिक धन संचय करके सम्माननीय बनना चाहता है। योगी साधना का विपुल प्रदर्शन करके वंदनीय बनना चाहता है। सत्तालोलुप राज्य सत्ता की बागडोर हाथ में लेकर अपने आपके अभिमान का प्रदर्शन करता है।

इस तरह येन-केन-प्रकारेण मानव अपनी अहंवृत्ति का पोषण करने के लिये किसी भी भौतिक वस्तु के माध्यम को लेकर सम्मान-नीय बनना चाहता है। किन्तु इस तथ्य में यदि किंचित् भी अन्तः प्रवेश किया जाय तो यह निश्चित सिद्धान्त मालूम पड़ता है कि इस प्रकार की (अहंवृति का पोषण) सम्मानित बनने की लालसा से प्राप्त सम्मान, स्थायी रूप से नहीं रह सकता। पूंजीपति उन निर्धन व्यक्तियों के बीच में तभी तक सम्मानित हो सकता है जब तक कि उसके पास चन्द चाँदी के टुकड़े हैं। ज्योंहि उसकी धन-सम्पत्ति चली जाती है तो उसके साथ ही उसका सम्मान भी विलुप्त हो जाता है, क्योंकि पूंजीपति का यह सम्मान परतंत्र है, धन सम्पत्ति के अधीन है।

सत्ता लोलुपी व्यक्तियों की भी यही स्थिति है—उन सबका सम्मान भी उन भौतिकी वस्तुओं पर निर्भर होने से परतंत्र है।

इसके विपरीत जब तक मानव स्वतंत्रता के साथ सम्मान प्राप्त करने का अभीप्सु नहीं होगा, तब तक वह अपने आपको ध्रुव सम्मान-

# जन्ममेव-मृत्यु

जव से मानव ने इस पृथ्वी पर जन्म लिया है तभी से मृत्यु प्रारम्भ हो चुकी है। जन्म और मृत्यु का अविछिन्न संवंध है। जिसने जन्म लिया, उसकी मृत्यु सुनिश्चित है। मनुष्य जितनी आयुष्य वाँधकर आया है। जन्म लेने के वाद जितना समय व्यतीत हुआ, उतनी उसकी आयुष्य कम हो जाती है। एक समय बीतते ही मनुष्य की एक समय की आयुष्य कम हो जाती है। इसीलिये जन्म के साथ ही उसकी मृत्यु भी निरन्तर हो रही है। आज का व्यक्ति यह समझ कर खुश होता है कि मैं इतने वर्ष का हो गया हूं—जन्मोत्सव (वर्थ डे) मना रहा है किन्तु यह नहीं सोच पाता कि मेरी इतने वर्ष की आयु कम हो गई। सिद्धान्त की भाषा में इस मृत्यु को आवीचिक मरण कहा है।

संसार का कोई भी प्राणी मृत्यु नहीं चाहता, सभी जीना चाहते हैं। किसी को यह कह दिया जाय कि तुम्हारी मृत्यु आज से सातवें दिन हो जायगी तो उस व्यक्ति का उसी क्षण से खाना-पीना, ऐशो-आराम सव कुछ छूट जायेगा। पाप करने की ओर भी उसका मन नहीं जाएगा। किन्तु वह यह नहीं समझ पा रहा है कि उसकी मृत्यु सात दिन वाद नहीं प्रतिदिन, प्रति समय, प्रतिपल हो रही है। निश्चित रूप से एक दिन ऐसा आयेगा कि जव उसकी आयु सर्वथा रूप से नष्ट हो जायगी और उसे इस शरीर को छोड़ कर भवान्तर में गमन करने के लिए चल पड़ना होगा।

जन्म और मृत्यु के इस झूले में झूलने वाली इस आत्मा का परिष्कार तभी हो सकता है जव वह जन्म और मृत्यु को अच्छी तरह से समझ ले। □

# सच्ची औषध

एक पुत्र पिता की अस्वस्थता को देखकर चिकित्सक को लाता है। चिकित्सक ने रोग का निदान करके औषध लिख दी। पुत्र औषध लाने के लिए घर से रवाना हो जाता है। किन्तु मार्ग में उसे एक मंच पर नृत्य करती हुई नटी दिखाई देती है, जिसे देखने के लिए वहाँ सहस्रों नर-नारियों का जमघट लगा हुआ है। पुत्र ने सोचा—क्यों न नृत्य देख लिया जाय। औषध तो बाद में भी लाई जा सकती है किन्तु नृत्य बाद में देखने को नहीं मिलेगा। यह सोचकर वह नृत्य देखने के लिए बैठ जाता है। लगभग तीन घंटे तक नृत्य चलता है। नृत्य के समाप्त होने के बाद जब वह औषध की दुकान पर पहुँचता तो उसने देखा कि दुकान बन्द हो चुकी है। तब यह सोच कर घर जाता है कि कल औषध ले आयेगा। इधर पिता का स्वास्थ्य निरन्तर गिरता चला जा रहा था। औषध न मिलने से आखिर उनका प्राणोत्सर्ग हो गया। पुत्र पश्चात्ताप करने लगा, किन्तु अब पश्चात्ताप करने से क्या होने वाला था।

यह एक रूपक है, ठीक इसी प्रकार इस संसार रूपी रंगमंच पर अगणित प्राणी जन्म लेते हैं। उनकी आत्मा को कर्मरूपी रोग निरन्तर ग्रसित कर रहा है। उस रोग को दूर करने के लिये धर्म रूपी औषध का निर्देश आध्यात्मिक चिकित्सक श्रमण निर्ग्रन्थ करते हैं। साथ ही उस रोग का निदर्शन कराते हुए वे उन मानवों को समझाते हैं कि 'हे भव्य आत्माओ! तुम्हारी आत्मा को कर्म रूपी रोग निरन्तर रुग्ण बना रहा है, उसके गुणों को क्षत-विक्षत कर रहा है। उस कर्म रूपी रोग को दूर करने के लिए धर्म रूपी औषध का पान करो। अवश्य ही उससे आरोग्य की प्राप्ति होगी।' वे मानव उनको सुनते अवश्य हैं, किन्तु ज्योंही संसार के रंगमंच पर पहुंचते हैं और भौतिकता रूपी नटी के नृत्य को देखते हैं, तो भूल जाते हैं रोग का निदान करना

और धर्म रूपी औषध का पान करना।

वे धन-दौलत, परिवार, माता-पिता आदि स्वजनों के झूठे स्नेह से आबद्ध हो जाते हैं। ऐन्द्रिय सुखों की क्षणिकता को न समझ कर उसके भोग में सुखानुभूति करने लगते हैं। अन्ततः जब वृद्धावस्था आती है, इन्द्रियाँ क्षीण हो जाती हैं, शरीर रोग संकुल हो जाता है, तब वे पश्चात्ताप करने लगते हैं। अतीत की बातें चलचित्र की भाँति उनके स्मृतिपट पर उभरने लगती है किन्तु अब क्या हो सकता है? अब तो मृत्यु का खुला मुख अट्टहास करता हुआ सामने आ खड़ा है पर उसी में अपने को समाहित करता हुआ मानव अपने इस जीवन को पर जीवन के दुःखों की दीर्घ परम्परा में डाल देता है, और दुर्लभ जीवन को खो बैठता है।

सावधान! धर्म रूपी औषध का सेवन करो। □

क्रिया के आचरण से कहीं प्रदर्शन दिखलाया जा रहा है।
पुरानी वस्तुओं पर कहीं नया पैकिंग लगाया जा रहा है।
कुछ तो समझो, धर्म धोरी उपासको, श्रद्धालुओं--
धर्म के नाम पर कहीं पाखण्ड बढ़ाया जा रहा है।

# दैनन्दिन कार्य

दैनन्दिन कुछ कार्य ऐसे होते हैं जो अनिवार्य रूप से करने होते हैं। ऐसे कार्यों में मानव मन की रुचि प्रायः नहीं रहती तथापि विवशता वश यंत्र की भाँति उन कार्यों को सम्पन्न कर लिया जाता है। ऐसी दशा में उन कार्यों से जो उपलब्धि होनी चाहिये, उससे वह वंचित रह जाता है।

बिना इच्छा बाल-बच्चे को मानवाकृति भी बनाने के लिये कहा जाय तो वह विवशतावश चित्र तो बनाएगा, किन्तु वह सुन्दर न बनकर वीभत्स बनेगा।

कार्य में समीचीनता और उत्तमता लाना है तो मन को तदनुकूल ही बनाना होगा। अनिवार्य रूप से किये जाने वाले दैनन्दिन कार्यों को भी मानव दिलचस्पी लेकर सम्पन्न करे तो लघु से लघु कार्य भी कभी-कभी महत् सिद्धि प्रदायक हो जाता है। यह एक अनुभव का विषय है कि साधना क्षेत्र में दीखनेवाले छोटे-छोटे कार्य भी साध्य-सिद्धि में परम सहायक बन जाते हैं।

हमें अपने दैनन्दिन कार्यों की उपेक्षा न करके मनोनुकूल रीति से उनको सम्पादित करना चाहिये। □

आज खतरा कांटों से नहीं जितना फूलों से है।
आज खतरा जहर से नहीं जितना अमृत से है।
वर्तमान की दुनियां को समझो भोले पुरुषो,
आज खतरा परायों से नहीं जितना अपनों से है॥

# प्रयोग : किसका कहाँ ?

सूई, कैंची, चाकू, तलवार का कहाँ प्रयोग किया जा सकता है, यह ज्ञान आधुनिक युग के छोटे से बच्चे को भी है। यदि ये ही वस्तुएँ किसी अनभिज्ञ व्यक्ति के पास पहुँच जायँ तो वह सूई का प्रयोग सिलाई करने के बजाय किसी को चुभाने में भी कर सकता है। कैंची से किसी के अंग प्रत्यंग भी काट सकता है। तलवार से किसी की गर्दन भी उड़ा सकता है। चाकू किसी के पेट में घुसेड़ सकता है। लाभ के स्थान पर वह उन वस्तुओं से अनेक हानियाँ कर सकता है। इसी प्रकार मानव तन रूपी महावस्तु जो अत्यन्त दुर्लभ है, वह विश्व की सभी मानवीय आत्माओं को प्राप्त हुई है। उसका कैसे और कहाँ प्रयोग किया जा रहा है, इसका ज्ञान बहुत कम मनुष्यों को होता है। सांसारिक, भौतिक वस्तुओं का उपयोग कैसे किया जाय ? इस विषय के ज्ञान में तो निरन्तर प्रगति की जा रही है किन्तु जो तन हमें जन्म से ही प्राप्त हुआ है, उस तन की ओर तो हमारा ध्यान ही नहीं है।

आज का अधिकांश मानव दुर्लभता से प्राप्त अपने तन का प्रायः दुरुपयोग कर रहा है। जिस तन से अध्यात्म की परम साधना की जा सकती है, उस तन से वह सांसारिक ऐन्द्रिय सुखों को पाने की अनल्प आकांक्षा कर रहा है और उसी की प्राप्ति के लिये निरन्तर दौड़ लगा रहा है।

आज तक संसार के किसी भी प्राणी ने इन्द्रिय विषयों से कभी शाश्वत् सुख की उपलब्धि नहीं की है। उनसे प्राप्त क्षणिक सुख भी अन्ततः महान दुःख को उत्पन्न करने वाला ही बना है।

अतः जो तन मानव को प्राप्त हुआ है, उस तन का प्रयोग अध्यात्म साधना हेतु होना चाहिये। अध्यात्म साधक मानव ही मानव तन का सच्चा प्रयोग कर रहा है। □

# प्रवृत्ति से पुनरावृत्ति

प्रत्येक मानव की प्रवृत्ति ही पुनरावृत्ति को उत्पन्न करती है, यदि प्रवृत्ति के अन्दर उसकी ममत्व भावना रह जाय तो। आज के व्यावहारिक स्तर पर भी देखा जाता है कि जिस कार्य को करने की मानव की इच्छा नहीं होती है उस कार्य को वह शीघ्र ही भूल जाता है। मन उसी कार्य को करने की स्मृति रखता है जिसमें उसकी रुचि हो। इसी प्रकार जो कुछ भी मानव के द्वारा प्रवृत्तियाँ की जा रही है उनके साथ अगर राग और द्वेष की वृत्ति जुड़ी हुई है तो वह अवश्य पुनरावृत्ति करती है। वर्तमान युग में मानव जो कुछ भी सुख-दुख की अनुभूति, प्रवृत्ति कर रहा है, वह भी पूर्व कृत प्रवृत्ति से अर्जित कर्मों का परिणाम है। क्रियमाण प्रवृत्ति में यदि आंशिक रूप से रागात्मक या द्वेषात्मक भाव रह जाता है तो उस प्रवृत्ति से कर्म अर्जित होकर वे पुनरावृत्ति उपस्थित कर देते हैं। सर्वज्ञ, सर्वदर्शी आत्माओं के द्वारा जो कुछ भी प्रवृत्ति की जाती है उसमें रागात्मक व द्वेषात्मक की आंशिक स्थिति भी नहीं रहने से उनकी प्रवृत्ति पुनरावृत्ति को उत्पन्न नहीं करती। यदि हम भी उदीयमान प्रवृत्ति से राग और द्वेष की भावना को हटा देते हैं तो हमारे द्वारा क्रियमाण कार्य की पुनरावृत्ति नहीं होगी अर्थात् उदीयमान कर्मक्षय हो जायेंगे और नवीन कर्मों का बन्धन भी नहीं होगा।

□

हर वर्ष कितने ही त्योंहार मनाए जाते हैं।
होली और दीपावली के उपहार सजाए जाते हैं।
त्योंहार वही उपयोगी होता है जग में,
जिससे जीवन में सही संस्कार रमाए जाते हैं॥

# कंटकाकीर्ण पथ बनाम पुष्पों का पथ

मानसिक दुर्बलता या सबलता ही व्यक्ति के सुख और दुःख का सृजन करती है। साधना का दुर्गम पथ भी मन की सबलता से सुगम और सहज बन जाता है। कंटकाकीर्ण पथ भी पुष्पों का कोमल पथ बन जाता है।

साधना पथिक के मन की शक्ति को इतनी दृढ़ीभूत तथा केन्द्रीभूत कर लेती है कि मन बाह्य जगत से अनासक्त हो जाता है। यहाँ तक कि साधक मन आत्म संबद्ध भौतिक देह को भी उपेक्षित समझने लगता है।

दैहिक, शारीरिक कष्ट भी उसकी साधना में बाधक नहीं अपितु साधक बन जाते हैं। आर्हत दीक्षा में दीक्षित होने वाले साधक की संयमीय साधना में बाह्य रूप से परिलक्षित होने वाला एक महाकष्ट है, केश-लुंचन।

जहाँ एक केश को भी मस्तिष्क से उखाड़ा जाता है तो मानव वेदना से विह्वल हो उठता है, वहाँ साधक के सिरस्थ सारे कुन्तलों को ही नहीं अपितु श्मश्रु आदि का भी हाथों से उत्पाटन किया जाना साधक की शारीरिक, अनासक्त भावना को परिघोषित कराने वाला होता है।

साधना की यह भी एक कसौटी है कि जब तक साधक का मन शरीर पिण्ड की ओर आसक्तिपूर्ण रहेगा, तब तक अन्तरंग साधना प्रशस्तता के साथ प्रगतिशील नहीं हो सकेगी। अतएव मानस को अन्तरंग की साधना में दृढ़ीभूत करने के लिये ही शरीर पिण्ड को क्लेशित किया जाता है।

मानसिक दृढ़ता से जब साधक अन्तरंग यात्रा में गतिमान होने लगता है तब प्रत्येक बाधक तत्व भी उसके साधक/सहायक अंग बन जाते हैं।

आगम के पृष्ठों पर गजसुकुमार अनगार का जीवनवृत इसी संदेश को उजागर कर रहा है। जहाँ नव मुण्डित मस्तिष्क पर गीली

मिट्टी की पाल बाँध देना, धधकते अंगारों को सोमिल के द्वारा मस्तिष्क पर रख देना, कितनी भयंकर वेदना उत्पन्न कर रहा था, उसकी मात्र कल्पना ही की जा सकती है। किन्तु महामुनि गजसुकुमार के लिये ऐसा दुर्गम पथ भी सुगम बन गया। बाधक तत्व भी साधक बन गये।

उनके चिन्तन ने एक नया मोड़ लिया। ओह! यह पुरुष कितना दयालु (परोपकारी) है जो मेरे कर्मों को शीघ्र क्षरित करने के लिये सहायक बन रहा है। इसके साहाय्य से मेरी चेतना ऊर्ध्वारोहण कर रही है। यह ऐसा परोपकारी है कि जिसके माध्यम से मेरा चैतन्य जन्म-जन्मान्तर का कलिमल प्रक्षालित करता हुआ आत्मीय स्वरूप को उजागर कर रहा है। मानसिक ऊर्जा शरीर पिण्ड से हटकर अन्तरंग की साधना में प्रवर्तित हो रही है, परिणाम स्वरूप उनके लिये वह 'कंटकाकीर्ण पथ' फूलों का पथ बन गया। □

योग एक किन्तु योगी अनेक होते हैं।
रंग एक किन्तु रूप अनेक होते हैं।
साध्य और साधना को समझो उपासको,
साध्य एक किन्तु साधन अनेक होते हैं॥

# स्व प्रशंसा की महान् बुभुक्षा

अधिकांश मनुष्यों की यह अभिलाषा होती है कि सभी व्यक्ति मेरी प्रशंसा करें, इज्जत करें, सम्मान करें। उसका गौरव चतुर्दिक प्रसृत हो, इसके लिये कई तरीके अपनाये जाते हैं। उनमें से एक तरीका है दूसरों से अपनी प्रशंसा कराने के लिये सामनेवाले व्यक्ति की प्रशंसा करना, चाहे उस व्यक्ति में प्रशंसा योग्य गुण हों या न हों। आंशिक रूप में भी वे गुण विद्यमान नहीं हैं फिर भी उन गुणों को बढ़ा-चढ़ा कर बखान करने में व्यक्ति के मन में अधिकांशत: यही भावना काम करती है कि यह व्यक्ति उसकी भी अन्य लोगों के सामने भरपूर प्रशंसा करे।

एक और भी आश्चर्यजनक तरीका है जो कि बाह्य रूप में तो स्व-निन्दा के रूप में परिलक्षित होता है किन्तु अन्तर में अपनी प्रशंसा की महान् बुभुक्षा संजोए रहता है।

कई व्यक्ति ऐसे भी देखने को मिलते हैं जो कि बाह्य रूप से तो स्वयं की निन्दा करते रहते हैं कि हममें यह गुण नहीं है, गुणहीन हैं गुणज्ञ तो आप हैं आदि आदि। इन बातों को सुनाकर वे श्रोताओं से यह चाहते हैं कि वे उसकी प्रशंसा करें कि आप तो महान् गुणवान हैं, शक्ति एवं ऐश्वर्य सम्पन्न हैं, आपका क्या कहना......।

ज्ञानवान व्यक्ति निज प्रशंसा का बुभुक्षु है तो उसे आप यह कहते हुए पाएंगे कि उसके अन्दर क्या ज्ञान है। वर्णमाला का भी यथार्थ अवबोध नहीं हो पाया है, तब बड़े-बड़े ग्रन्थों के अध्येता कैसे हो सकता है। ज्ञानवान तो आप हैं, आप जैसी विद्वत्ता मुझ में कहाँ है।

इस बात को सुनकर श्रोतागण उसकी प्रशंसा करें कि नहीं, नहीं आप हमारे लिये यह क्या कह रहे हैं? हमारे अन्दर ऐसी ज्ञान की स्थिति कहाँ है, यह वास्तविकता तो आपमें है।

धनिक व्यक्ति होगा तो वह यह कहता हुआ मिलेगा कि हमारे

पास कहाँ धन है, धन-सम्पत्ति तो आपके पास है। ऐश्वर्य और सुख की अनुभूति तो आप कर रहे हैं। हमारी धनिकता तो आपके समक्ष, जिस प्रकार बन्दर को वस्त्र की चिंदी मिल जाने पर बजाज बन बैठता है, उस तरीके की है।

श्रोताजन यह सुनकर उसकी प्रशंसा करेंगे और कहेंगे—नहीं साहब ! आप हम गरीबों को यह क्या फरमा रहे हैं—यह तो आपकी महानता है, हमारे पास कहाँ धन। आपकी कृपा से दाल-रोटी मिल रही है। जबकि आपके पास तो अक्षय धन कोष है, आप लक्ष्मी-पति हैं। सोने-चाँदी-हीरे-जवाहरात के खजाने भरे हैं। ऐश्वर्य सम्पन्न तथा महान् सुखी तो आप हैं, हम तो फटे हाल हैं।

इस प्रकार अनेक व्यक्ति बाह्य रूप में पर प्रशंसक परिलक्षित होते हुए भी अन्तरंग में आत्म-प्रशंसा की गहरी भूख लिये हुए होते हैं, जिन्हें वे इस प्रकार से शान्त करते हैं। यही नहीं अपनी किसी नवनिर्मित वस्तु, मकान, कार, टी० वी०, दुकान, व्यापार की भी प्रशंसा अन्य व्यक्तियों से करानी होती है तो उसमें भी यही तरीका अपनाया जाता है। □

युवकों की क्रान्ति कुछ नया रूप ला रही है।
युवकों की क्रान्ति सत्य को उजागर कर रही है।
युवकों का खून जीर्ण जालों को तोड़ने मचल रहा है,
युवकों की जागृति दिव्य चेतना जगा रही है॥

# गुप्तता में आकर्षण

अदृश्य वस्तु में मानव का सहज आकर्षण होता है। जितना चिन्तन उसका दृश्य, प्रकट वस्तुओं पर नहीं होता, उससे कई गुना अधिक चिन्तन अदृश्य, अप्रकट किंवा गुह्य-चीजों पर होता है। जैसे सूर्य-चन्द्र क्या हैं ? तारे और ग्रहों की स्थिति क्या है ? इनकी गति, क्रिया किस प्रकार की है। ये मात्र उष्ण अथवा शीत परमाणुओं के पिण्ड हैं या इससे परे भी कोई वस्तु है......आदि।

इस सम्बन्ध में अनेक धर्माचार्यों ने धार्मिक सिद्धान्तों के आधार पर वर्णन प्रस्तुत किया है तो दार्शनिकों ने इसे दर्शन के आधार पर प्रतिपादित किया है। वैज्ञानिकों ने भी अलग-अलग प्रकार से विचार प्रस्तुत किये हैं।

जितनी इन अप्रकट, गुह्य तत्वों पर मानव की विचार-सरणि प्रगतिशील हुई है, सम्भवतः उतनी अन्य विषयों पर नहीं।

क्योंकि मानव का गुप्त चीजों की ओर सहज ही आकर्षण होता है। वह हर गुप्त वस्तु को जानना चाहता है चाहे वह उपयोगी हो या न हो। उदाहरण के रूप में एक साधारण-सी बात को ही लीजिये--व्यक्ति अपने पदत्राण (जूते) लेने के लिए किसी 'शू स्टोर' पर पहुंचता है। वहाँ पर भी उसका आकर्षण बाह्य दृश्य जूतों पर उतना नहीं रहता जितना डिब्बों और आलमारियों में बन्द जूतों पर होता है। मानों दुकानदार ने अच्छे जूते डिब्बों में बन्द करके आलमारियों में छिपा रखे हों।

इस बात की ओर अधिक स्पष्टता बालकों में सहजता से देखी जा सकती है। बालक को चाहे कितनी मूल्यवान आकर्षक वस्तु क्यों न दिखायी जाय अथवा उसे दे दी जाय किन्तु एक वस्तु बन्द डिब्बे में है उसे नहीं दिखाई जाय तो बच्चे का सारा का सारा आकर्षण उस डिब्बे पर केन्द्रित हो जायेगा। उसके मन में एक तीव्र जिज्ञासा

स्फुरित होने लगेगी कि इसके अन्दर कौन-सी अद्‌भुत वस्तु है जो मुझ से छिपाई जा रही है। बच्चा सारी खाद्य वस्तुओं और अच्छे-अच्छे खिलौने को छोड़ कर उस बन्द डिब्बे में रही वस्तु को पाने के लिये मचल उठता है और जब तक वह वस्तु उसे दिखाई नहीं जाती तब तक उसका रोना, चिल्लाना, मचलना बन्द नहीं होता। यहाँ तक कि सोते हुए निद्रावस्था में भी वही रट लगी रहती है।

यही बात प्रायः युवक-युवती-प्रौढ़-वृद्ध सभी में न्यूनाधिक रूप में परिलक्षित होती है। दो युवक शान्ति से कोई बातचीत कर रहे हों और शनैः-शनैः की जा रही हो तो पास में खड़े तीसरे व्यक्ति की जिज्ञासा उस बात को सुनने की बन जाती है चाहे उस बात से उसका कोई सम्बन्ध भी न हो। उस व्यक्ति का मन एकाग्र हो जायगा, कान खड़े हो जायेंगे—सुनने के लिये।

यही बात प्रौढ़ व वृद्ध व्यक्तियों में भी देखी जा सकती है। हर व्यक्ति के मन में दृश्य वस्तु पर इतना आकर्षण नहीं होता जितना कि अदृश्य एवं गुप्त वस्तु पर होता है।

ग्रामीण व्यक्ति का आकर्षण नगर की ओर और नागरिक व्यक्ति का आकर्षण दूरस्थ ग्रामीण प्राकृतिक आंचल में होता है। भारतीय व्यक्ति का आकर्षण विदेशी वस्तुओं पर होता है चाहे वे भारत में बनी वस्तुओं से ज्यादा अच्छी न हों।

मानव का इतना ही आकर्षण अगर उसमें रही हुई अन्तरशक्ति जो अदृश्य, गुप्त है, उस ओर बढ़े और उस विल पावर/आत्मिक शक्ति को जानने के लिये उसकी तीव्र उत्कंठा-जिज्ञासा जागृत हो जाय तो निश्चित है कि वह उस अपरिमेय ऊर्जा को प्राप्त कर सकता है जिससे उसकी सारी गुत्थियाँ, उलझनें, मानसिक तनाव आदि समाप्त हो जांय।

जिस उपलब्धि के पश्चात् अन्य कोई भी गुप्तता या अदृश्यता उसके लिये शेष नहीं रह जाती, उसकी ओर उसका आकर्षण तीव्रता से बढ़ता रहे। □

# अति सर्वत्र वर्जयेत्

प्रत्येक कार्य की अति अन्ततः हानिकारक ही होती है, चाहे वह अच्छी हो या वुरी, अनुकूल हो या प्रतिकूल, उपयोगी हो या अनुपयोगी।

शरीर के विषय में चिन्तन किया जाय तो वस्तु स्थिति और स्पष्ट हो जाती है।

कान से हम सुमधुर सुस्वर संगीत श्रवण करना चाहते हैं। ऐसा गीत एक बार, दो बार, तीन बार व्यक्ति सुन लेता है और जो उसे सुख देनेवाला होता है उसी से वह ऊब जाता है यहाँ तक कि एक समय उसे सुनना भी पसन्द नहीं करता।

नैत्र से मनोरम दृश्य, चित्रादि देखने में मानव सुखानुभूति करता है किन्तु जो रमणीय लग रहा है उसे बार-बार दिखाया जाय तो धीरे-धीरे अथवा क्रमशः उसकी जिज्ञासा घृणा में बदल जाती है। किसी चित्र/चलचित्र अथवा मनोरम दृश्य को व्यक्ति प्रथम बार देखता है तो अत्यन्त प्रिय, आकर्षक लगता है लेकिन अनेक बार देखने पर उसका आकर्षण समाप्त हो जाता है। वही उसे फिर दिखाने पर वह दुःखानुभूति देनेवाला बन जाता है।

सुरभिगंध भी अति मात्रा में सूंघने पर सुखदायक नहीं लगती। जिह्वा को भी अच्छे व्यंजन का स्वाद पुनः-पुनः दिया जाय तो वही स्वाद घृणा का रूप ले लेता है। त्वचा का सुख भी कुछ क्षणों के लिये आनन्ददायक होता है। अन्ततः वह भी महान दुःखदायी लगने लगता है।

संसार की किसी भी भौतिक वस्तु के विषय में चिन्तन किया जाय तो यह स्पष्ट हो जाता है कि इन पदार्थों में वास्तविक सुख की स्थिति का अंश भी नहीं है। 'बाह्य रूप से दिखाई देनेवाला सुख का सुनहला जाल एक नकली हीरे की तरह मात्र देदीप्यमान है इसके अतिरिक्त कुछ भी नहीं।' नीतिकार की यह उक्ति भौतिक वस्तुओं के विषय

में शतप्रतिशत सही उतरती है।

आत्मा की साधना करनेवाला साधक भी लक्ष्य की ओर पूर्ण तन्मय नहीं होता है तो वह भी उस साधना से शीघ्र ही ऊब जाता है। जो साधक लक्ष्य की ओर सर्वतोभावेन समर्पित होकर, एकनिष्ठ होकर तन्मय हो जाता है वह जितनी उस साधना में अधिक से अधिक पैठ करेगा, अवगाहन करेगा, अन्तःप्रवेश करता चला जाएगा, उतनी अधिक मात्रा में वह सुखानुभूति करता चला जाएगा, अधिक आकर्षित एवं साधनाशील बनता चला जाएगा। उसके लिये एतद् विषयक अति सर्वत्र वर्जयेत् की उक्ति घटित नहीं होती है। वहाँ तो साधक की अति उसके लिये एक वरदान सिद्ध हो जाती है। साधकों के लिये अति-सर्वत्र-वर्जयेत् की उक्ति अपवाद बन जाती है। □

जो सहले कष्ट, दुःखों को उसे समधीर कहते हैं।
जो मिटादे प्यास तृषितों की उसे शीतल नीर कहते हैं।
जो ढक दे अंग लज्जा के उसे ही चीर कहते हैं।
जो जलादे कर्म ईंधन को उसे महावीर कहते हैं॥

# गणेश और नानेश शब्द में अनुपम संगति

सन्ध्या का समय, भास्कर अस्ताचल की ओर प्रयाण कर रहा है। सर्वत्र लालिमा छिटकी हुई है। शीतल समीर प्रवाहित हो रही है। आवश्यक क्रियाओं से निवृत्ति के पश्चात् आत्मशोधन का कार्य प्रारम्भ होने ही वाला है। इस बीच चिन्तन की लालिमा छिटकी, विचार तड़ित प्रकटी-परम श्रद्धास्पद आचार्य श्री नानेश द्वारा विवेचित गणेश शब्द की व्युत्पतियों पर, जो कि गणेशाचार्य के जीवन में सर्वांशतः सार्थक रूप ले चुकी थी।

गणेश शब्द के मुख्यतया व्युत्पत्तिपरक तीन अर्थ लिये जाते हैं—

यथा—गणस्य+ईश=इति गणेशः

गणयो+ईश=इति गणेशः

गणानां+ईश=इति गणेशः

(१) जो एक गण का स्वामी है उसे गणेश कहते हैं। इस व्युत्पत्ति की सार्थकता घटित हुई खानदेश के जलगाँव में। महान् क्रान्तिकारी युगदृष्टा ज्योतिर्धर जवाहराचार्य की विचक्षण प्रतिभा तथा पैनी दृष्टि ने गणेशाचार्य के जीवन को परख लिया था। सत्य है हीरे की योग्यता, दक्ष जौहरी से छिपी नहीं रह सकती। जवाहराचार्य की शारीरिक स्थिति क्षीण होती जा रही थी, हाथ पर एक जहरीला फोड़ा फूट चुका था, शरीर अपनी नश्वरता का परिचय दे रहा था। अगणित संघीय श्रावक-श्राविकाओं का यह मानसिक उद्घोष जवाहराचार्य के कर्णगह्वरों में गूंज रहा था कि संघ की अविच्छिन्न परम्परा की सुरक्षा के लिये संघ नायक होना आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी है। मेरी शारीरिक स्थिति निर्बल होती जा रही है, अतः श्रमण संस्कृति के किसी सजग प्रहरी को चयनित कर लेना चाहिये। प्रखर मेधा के धनी षष्टम पट्टधर ने तत्क्षण निर्णय लिया और उनकी दष्टि विशाल साधु संघ पर पड़ी, जिसमें शांत-प्रशांत, सौम्य स्वभावी

पंडित प्रवर मुनि श्री गणेशीलालजी म० सा० पर केन्द्रित हो गयी। फलस्वरूप उन्होंने महामुनि गणेश के सबल कन्धों पर चतुर्विध संघ का उत्तरदायित्व रख दिया।

इस गण का नायक गणेश रहेगा। इसकी योग्यता एवं प्रतिभा से गण की सुरक्षा अक्षुण्ण रूप से रह पायेगी, यह मेरी दृढ़तम धारणा है।

इस प्रकार से गणेशाचार्य एक गण के स्वामी बन गये।

(२) गणयो+ईश=इति गणेशः। दो गणों के स्वामी को गणेश कहते हैं। सन् १९९० के अजमेर के वृहत् सम्मेलन में सर्व-सम्मति से पाँच उच्च कोटि के मुनिवरों, पंचों द्वारा यह निर्णय प्रसारित किया गया कि महान् क्रियोद्धारक हुक्मीचन्दजी म. सा. की सम्प्रदाय के गण के पंचम पट्टधर आचार्य श्री श्री लालजी म. सा. के कार्यकाल में दो विभाग हो चुके थे, ......। दो धाराएँ अलग-अलग प्रवाहित हो चुकी थीं। एक जवाहराचार्य के रूप में, दूसरी मन्ना-लालजी म. सा. के रूप में।

इन दोनों का एकीकरण करने के लिये गहन चिन्तन के साथ उभयपक्ष की सम्मति पूर्वक पंच मुनिवरों ने यह सर्वसम्मति से निर्णय दिया कि इन दोनों का अनागत में स्वामी, नायक मुनिवर गणेश होंगे।

यहाँ गणेशाचार्य के जीवन में गणयो+ईश=गणेश की द्वितीय व्युत्पति यथार्थ रूप में परिलक्षित हुई।

सन् १९५० में घाणेराव सादड़ी में स्थानकवासी समाज के वृहद् साधु सम्मेलन में अनेक सम्प्रदायों, गणों का विलीनीकरण हुआ था। सबने एक स्वर से अपने नायक के रूप में अर्थात् सर्व सत्ता संपन्न के रूप में गणेशाचार्य को स्वीकृत किया था।

समवेत स्वर से जिसका अनुमोदन-समर्थन हुआ था, जो कि गणानां+ईश=गणेश की तृतीय व्युत्पत्ति अर्थ को गणेशाचार्य के जीवन में यथार्थ रूप से प्रतिभासित करा रहा था।

आचार्य भगवान् कृत गणेश शब्द की यह अनुपम संयोजना मस्तिष्क में तरंगित होने लगी।

गणेश शब्द के चिन्तन के साथ स्फुरित विचार, भावोर्मियाँ नानेश शब्द के ऊपर चिन्तनशील होने लगीं। विचारों ने नया मोड़ लिया।

नाना शब्द अनेकता को अभिव्यक्त करने वाला है। प्रत्येक वस्तु को नाना दृष्टिकोण से अभिव्यक्त किया जा सकता है। एकांगी दृष्टि किसी भी वस्तु के सही स्वरूप को उजागर नहीं कर सकती। महासागर गणेशाचार्य में अनेक गणों की सरिताएं विलीन हो गई थीं। नाना-स्थितियों का सम्मेलन हुआ था। वही महासागर समाहित हुआ नानेशाचार्य के विशाल जीवन में। नाना+ईश=इति नानेशः। तभी ये स्वर स्फुरित हो उठे—

नाना गुण तुम युक्त हो,<br>
नाना नाम महान्।<br>
नाना है तव साधना,<br>
नाना है व्याख्यान।<br>
नाना से नानेश बने,<br>
लगते हो अभिराम।<br>
विनयभाव से वन्दना,<br>
करता हूँ अविराम। □

# प्राकृतिक सुषमा का आकर्षण क्यों ?

प्राकृतिक सुषमा इतनी मनोरम क्यों लगती है ? प्रश्न बहुत सहज एवं सरल लगता है, किन्तु जब इसके अन्तःस्तल तक प्रवेश किया जाय तो एक शाश्वत् सत्य उभर आता है। प्राकृतिक वस्तुओं की रमणीयता का एक प्रमुख कारण यह है कि इनकी शोभा श्री को अभिवृद्धित करने वाला कोई अन्य नहीं होता है। गुलाब के अन्दर सौरभ को लाने के लिये किसी अन्य वस्तु की आवश्यकता नहीं होती। पेड़-पौधों को रमणीय, हरितकाय बनाने के लिये किसी हरे रंग का प्रयोग नहीं किया जाता। उनकी प्राकृतिक आभा सहज ही होती है। संसार की किसी भी प्राकृतिक वस्तु की ओर दृष्टिपात किया जाय तो स्पष्ट परिलक्षित होगा कि इनकी आभा को निखारने के लिये अन्य किसी साधन का कोई प्रयोग अपेक्षित नहीं होता।

इनकी यह स्वाभाविक स्थिति मानव के लिये आकर्षण का केन्द्र बनती है और यह मूक उपदेश देती है कि जो प्राकृतिक अवस्था में आकर्षण है, वह संसार की किसी भी अप्राकृतिक वस्तु में नहीं है।

जितना-जितना मानव अप्राकृतिक साधनों की ओर दौड़ रहा है, उनकी बाह्य लुभावनी स्थिति पर आसक्त हो रहा है, उतना ही अधिक वह दुःखी और पीड़ित बन रहा है। अरमणीय, अमनोरम तथा वीभत्स बनता चला जा रहा है। अपने आपकी रमणीयता पाने के लिये हमें भी वनस्पति की तरह प्राकृतिक अवस्था में आना होगा। अपने निजी प्रकृत रूप को समझना होगा। आत्मा इस शरीर के रग-रग में अग्नि गोलक की तरह अभिव्याप्त होते हुए भी शरीर से अलग है। इसकी प्राकृतिक स्थिति हिंसा, असत्य, चौर्य (चोरी), मैथुन या परिग्रह, राग-द्वेष, काम-क्रोध की नहीं है। मानव का जितना आकर्षण इन तत्वों की ओर बढ़ रहा है, उतना ही मानव अपनी प्राकृतिक शोभा को क्षत-विक्षत करता हुआ अपने को विकृति के अन्ध

कूप में धकेल रहा है। अपनी शोभा को खो रहा है।

मानव के सुख की स्थिति भी तो अन्ततः प्राकृतिक तत्वों में ही रही हुई है चाहे वह कितना ही अप्राकृतिक, विकृत रूप में आ जाय, मूल स्थिति का अभाव तो आंशिक रूप में हो ही जाता है।

गधा सिंह का चर्म ओढ़ कर सिंहत्व के अप्राकृतिक रूप में तभी तक मौज उड़ा सकता है जब तक उसकी ढेंच्यू ढेंच्यू की आवाज पशु जगत् के कर्ण रन्ध्रों में न पहुँच जाय।

आखिर मानव अपने प्राकृतिक रूप पर आवरण डालकर, भौतिक तत्वों का चर्म ओढ़कर कब तक सुखी हो सकता है, जब तक कि उसे वास्तविकता का अवबोध न हो जाय।

अतः व्यक्ति को रमणीय, मनोरम बनना है तो जैसे वनस्पति का सहज प्राकृतिक आकर्षण होता है, उसी प्रकार के आकर्षण के अनुरूप उसे प्राकृतिक बनना होगा। देह के अन्दर रहने वाली प्रचण्ड चेतना देही के प्रकृत गुण अहिंसादि सिद्धान्त को जीवन में साकार रूप देना होगा। इसकी परिपूर्णता पर ही मानव की रमणीयता और दुःख-मुक्ति निर्भर है। □

धन रक्षा के लिये बड़े-बड़े भंडार बनाये जाते हैं।
नगर रक्षा के लिये बड़े-बड़े प्राचीर बनाये जाते हैं।
भक्त से भगवान् बनने के लिये भी भव्यो,
मन के भण्डार में अच्छे-अच्छे विचार सजाए जाते हैं॥

# आत्म-दर्शन का वाधक : : मन का अस्थैर्य

मानव मस्तिक विचारों का महासमुद्र है, जिसमें विचार प्रादुर्भूत होते हैं और तिरोहित भी हो जाते हैं। उद्भूति और विलुप्ति का यह क्रम निरन्तर चलता रहता है। चित्रपट पर भी चित्र आते हैं और चले जाते हैं। जब तक उन विचारों को समझने का प्रयास नहीं किया जाता, गहनता से अध्ययन नहीं किया जाता तब तक उनका कोई विशेष महत्व नहीं रह पाता। मानव अनन्त विचार शक्ति का स्रोत होते हुए भी उसकी अनुभूति नहीं कर पा रहा है।

विश्व के प्रत्येक मानव के चिन्तन फलक पर त्रिकाल की बातें उभरती रहती हैं। अतीत में क्या कुछ हो चुका है, अनागत में क्या होने वाला है एवं वर्तमान में क्या हो रहा है?

इन सब की अनुभूति मानव को कब होगी, जब मानव प्रत्येक विचार पर गहनता के साथ स्थिरतापूर्वक चिन्तन करने की क्षमता प्राप्त करेगा। जब तक मानव मानसिक स्थिति को स्थिर नहीं करता, तब तक विचारों की विज्ञप्ति और आत्म-दर्शन की उपलब्धि कदापि सम्भावित नहीं है।

जलाशय के निर्मल पानी पर भी जब तक हवा चलती रहती है एवं पानी तरंगित होता रहता है, तब तक जल में प्रतिबिम्ब प्रतिभासित नहीं हो सकता। इसी प्रकार जब तक मानसिक स्थिति स्थिर नहीं रह पाएगी, मन की गति इधर से उधर दौड़ती रहेगी, तब तक मानव त्रिकालवर्ती उभरती हुई अवस्थाओं को नहीं जान सकता, आत्मदर्शन नहीं कर सकता। यदि आत्मदर्शन किंवा त्रिकालवर्ती ज्ञान की उपलब्धि करनी है, तो [illegible] तरंगों से तरंगित चंचल मन को स्थिर करना होगा।

अतीत के महापुरुषों के जीवन वृत्त का अवलोकन किया जाय

तो यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि साध्य की सिद्धि के लिये साधना में साधक का मन तन्मय होना आवश्यक है।

विशिष्ट योगियों के साधना वर्णनों से यह जाना जा सकता है कि वे योगी आत्मदर्शन के लिये ध्यान, साधना में तन्मय होते थे। बाह्य विकृतियों की तरंगों को जब शमित करते हैं तभी विचारों में स्थिरता आती है और आत्मा का साक्षात् दर्शन करते हैं। ☐

जीव अनन्त हैं उनका अन्त नहीं होता।
आकाश अनन्त है उसका अन्त नहीं होता।
अनन्त की कोई परिधि कभी नहीं होती,
इच्छाएं अनन्त हैं उनका अन्त नहीं होता॥

# सुख की खोज

विश्व का प्रत्यक प्राणी सुखाभिलाषी है। सभी सुख चाहते हैं, दुःख कोई नहीं चाहता है और सुख-शान्ति की उपलब्धि के लिए सतत् प्रयत्नशील रहते हैं।

किसी को धन-दौलत में सुख दिखलाई देता है, तो कोई वित्तोपार्जन में ही अहर्निश प्रयत्नशील रहता है। जितना अधिक धन प्राप्त होगा, व्यक्ति उतना ही अधिक सुखी होगा, यह भावना वित्तार्थी के मन में काम करती है, किन्तु वास्तविकता इससे ठीक विपरीत नजर आती है।

**"वित्तेण ताणं न लभे पमत्ते"**

'प्रमत्त वित्तार्थी वित्त से कभी त्राण-रक्षण नहीं पा सकता।'

जिस मनुष्य के पास जितना अधिक धन है, वह उतना ही अधिक दुःखी बनता है। धन संरक्षण-संवर्धन का महादुःख उन्हें घेरे रहता है। रजनी संगिनी निद्रा भी पलायन कर जाती है। कुछेक क्षणों की अप्राकृतिक अवास्तविक सुखानुभूति के लिये भी वह अनेक प्रकार की गोलियां, इंजेक्सन, विविध प्रकार की अंग्रेजी शराब आदि का प्रयोग करता रहता है।

धन लोलुपी का आद्योपान्त जीवन दुःख की महाविभीषिका से ही गुजरता है।

आधुनिक युग का भौतिक मानव भौतिकता में ही शान्ति का अन्वेषण करता रहता है, परन्तु जिस पदार्थ में जिस वस्तु का शतांश-सहस्रांश भी नहीं है, उस पदार्थ में वस्तु के सद्भाव की कल्पना व्यर्थ सिद्ध होती है।

पानी को मथनी से कितना ही मथ लिया जाय, किन्तु नवनीत का प्रादुर्भाव उसमें से हो ही नहीं सकता। हो भी तो कैसे ? क्योंकि नवनीत का आंशिक गुण भी जल में नहीं है।

मिट्टी के कणों को घाणी में कितना ही पीस लिया जाय, किन्तु तेल का अंश भी नहीं मिल सकता, क्योंकि मिट्टी के कणों में तेल नास्तिक रूप से विद्यमान है, अस्तित्व रूप से अंश मात्र भी नहीं है।

ठीक इसी प्रकार, भौतिक जड़ पदार्थों में चिर स्थायी शांति, सुख की स्थिति अंश रूप में भी नहीं है ; तब उन्हें एकत्रित करने से लाभ क्या है ? धन, दौलत, परिवार, मकान का अम्बार भी लगा लिया जाय, किन्तु मानव उनसे कदापि सुखानुभूति नहीं कर सकता।

आज का मानव भौतिक वस्तुओं की आसक्ति मे आकण्ठ डूबा होने के कारण दुःखी, उत्पीड़ित एवं तनावग्रस्त बनता जा रहा है। सुख और शांति को पाने के लिये व्यक्ति को आसक्ति का परित्याग करना होगा। अध्यात्म की ओर आना होगा, अन्तरावलोकन करना होगा।

सुख-शान्ति का अनन्त स्रोत मानव के अन्तर में ही समाहित है। भगवान महावीर ने भी सुख को पाने के लिये भौतिकता से हटकर आत्म-शोधन की स्थिति को प्रतिपादित किया है—

"अप्पा चेव दमेयव्वो, अप्पा हु खलु दुद्दमो।
अप्पा दंतो सुही होइ, अस्सिं लोए परत्थए।"

आत्मा का दमन-शोधन करो, आत्मा ही निश्चित रूप से दुर्दमनीय है। आत्मा को दमन करनेवाला इस लोक, परलोक, उभय-लोक में सुखी बन जाता है।

जब तक व्यक्ति अपने आपको नहीं समझेगा, भौतिकता से अपने आपको विलग नहीं करेगा, तब तक वह सुखी नहीं बन सकता। आत्मा का आत्मिक स्वरूप में रमण ही वास्तविक सुख है। □

# खून के रिश्ते कितने गहरे

आधुनिक युग के अधिकांश युवकों का आचरण निरन्तर पतन की ओर गतिमान है। वृद्ध माता-पिता पुत्रों को अपनी अवज्ञा करते हुए देखकर उद्‌विग्न हो उठते हैं। कैसे कपूत लड़के हैं, हमारी आज्ञा नहीं मानते। सेवा-सुश्रूषा का तो उनमें अंश मात्र भी भाव नहीं रहा है। दिनभर क्लबों, होटलों, सिनेमाघरों के विलासिता पूर्ण वातावरण में घूमना ही उनके जीवन का अंग बन गया है। माता-पिता उन्हें अपनी-अपनी राह का कंटक लगने लगे हैं।

विभिन्न विचारों का तूफान प्रायः माता-पिता के मस्तिष्क को उद्विग्न करता रहता है। किन्तु कुछ गहनता से विचार किया जाय तो यह स्पष्ट ज्ञात होगा कि पुत्रों पर जो दोषारोपण किया जा रहा है, उनका मूलतः दोषी कौन है ?

वृक्ष विषैला होता है तो मुख्यतया अपने मूल, बीज के कारण होता है। बीज की विषाक्तता ही वृक्ष को विषैला करती है। किंपाक के बीज वपन से आम्र फल की अभिलाषा रखनी पत्थर की गाय से दूध की अभिलाषा की तरह व्यर्थ ही होती है।

संतति के संस्कारित या असंस्कारित होने में यद्यपि उपादान कारण स्वतः का है तथापि विभिन्न कारणों में मूलभूत बीज माता-पिता हैं। संस्कार और चरित्र की जैसी स्थिति माता-पिता की होगी संतति की स्थिति भी प्रायः वैसी ही होगी। क्योंकि आनुवंशिक संस्कार मूलतः माता-पिता के ही होते हैं। स्पष्ट भाषा में कहा जाय तो माता-पिता का खून ही तो संतति का जीवन है।

जब तक माता और पिता का जीवन संस्कारित एवं उन्नत नहीं होगा तब तक संतति का जीवन उन्नत बनने में संदेह ही रहेगा।

वृक्ष को सींचने के लिये डाली, टहनी, पत्र, पुष्प, फलों को नहीं

सींचा जाता, उसके मूल को सिंचित किया जाता है। मूल के सिंचन से ही वृक्ष पुष्पित, फलित एवं हरा-भरा होता है।

प्रचलित लोकोक्ति/किंवदन्ती भी संतति के जीवन के मूल हेतु आनुवंशिक संस्कार की ओर निर्देश कर रही है।

प्राचीन युग के एक श्रेष्ठी ने पुत्र के लिये योग्य कन्या की उच्च-कुलीन परिवार में खोज की। उस खोज में उन्हें एक सुन्दर, अनुकूल कन्या मिल तो गई किन्तु जब कुल की खोज की गई तो ज्ञात हुआ कि इस कन्या की नानी की नानी ने चुहिया मारी अर्थात् इसकी नानी की भी नानी ने बिना प्रयोजन, निरर्थक, जान-बूझकर एक चुहिया की हिंसा की है, जो कि महा हिंसा है। अत: इसका कुल, शील ठीक नहीं है। लड़के का विवाह अन्य स्थल पर करना चाहिए, किन्तु सेठानी के आग्रह से उसी कन्या के साथ अनिच्छा से भी सेठ को लड़के का विवाह करना पड़ा।

परिणाम यह हुआ कि कुछ वर्षों बाद पुत्र-वधू के अतिरिक्त सारा परिवार कार्यवश बाहर गया हुआ था। घर पर एकाकी पुत्र-वधू ही थी। सेठ से मिलने के लिये उनका एक मित्र रत्नजटित स्वर्णाभूषणों से सज्जित हो मकान पर पहुँचा किन्तु वहाँ सेठजी नहीं मिले तो वह जाने लगा। पुत्र-वधू की दृष्टि उसके गहनों पर पड़ी तो ललचा गई, मति भ्रमित हो गई उसकी। जाते हुए व्यक्ति को पुत्र-वधु ने बुलाया और कहा सेठजी नहीं हैं तो क्या उनका घर तो है, भोजन करके ही जाना होगा। बहू के अत्याग्रह को देखकर वह मेहमान भोजन के लिये तैयार हो गये। पुत्र-वधू की भावना अर्थलोलुपी थी। अर्थ क्या अनर्थ नहीं कर देता है? भोजन में जहर मिला दिया गया, जिसे खाते ही आगन्तुक यमलोक का मेहमान बन गया। बहू ने गहने आदि को एकत्रित कर लाश को घर के पिछवाड़े खड्डा खोदकर गाड़ दिया।

पाप छिपाया ना छिपे, छिपे तो मोटो भाग।
दाबी दुबी ना रहे, रुई लपेटी आग॥

यही हाल हुआ। लाश से दुर्गन्ध आने लगी। परिणामस्वरूप पुलिस द्वारा खोजबीन करने पर लाश मिल गई। दण्ड के भय से बहू

को सारी बात सच-सच बतानी पड़ी। सरकार और कानून को जो करना था किया, सेठ की सारी सम्पत्ति जब्त कर परिवार को जेल में ठूंस दिया गया।

जेल के सींखचों में बन्द सेठ-सेठानी में वार्तालाप हुआ। सेठ ने कहा—सेठानी मैंने पहले ही कहा था कि लड़की का खानदान ठीक नहीं है। इसकी नानी की नानी ने चुहिया मारी थी और उन्हीं संस्कारों के कारण आज इसने मानव तक की हत्या कर दी।

यह है वंश परम्परा एवं आनुवंशिक संस्कारों का प्रभाव, खून का गहरा रिश्ता, किंपाक बीज के वपन का परिणाम। अब देखिये आम्र बीज के वपन का परिणाम अर्थात् माता-पिता के संस्कारित जीवन का परिणाम।

वीर हनुमान के पास इतनी शक्ति (बल) कहाँ से आ गई? इसका मूलभूत कारण वास्तव में पिता पवन और माता अंजना का संस्कारित जीवन एवं वर्षों तक ब्रह्मचर्य पालन की साधना थी।

आज के युग में माता-पिता का जीवन कैसा है? यह विचारणीय प्रश्न है।

आज की नवीन पीढ़ी में सुसंस्कार पूरित करने एवं उनका जीवन आदर्श बनाने के लिये परिवार में माता-पिता, अभिभावक एवं अन्य बड़ों का जीवन उच्च आदर्शों एवं व्यावहारिक, नैतिक आचरण युक्त होना चाहिए, ताकि घर से चरित्र की शिक्षा सीढ़ी शुरू हो सके।

अगर घर के संस्कार अच्छे होंगे तो बाह्य विलासी वातावरण का अतिशीघ्र प्रभाव नहीं पड़ सकेगा।

घर उज्ज्वल तो समाज उज्ज्वल,
समाज उज्ज्वल तो राष्ट्र एवं संसार उज्ज्वल होगा। □

बोलना सरल है, सुनना है मुश्किल।
तोड़ना सरल है, जोड़ना है मुश्किल।
चौरासी लाख योनियों में आत्मा को,
घुमाना सरल है, मोड़ना है मुश्किल॥

# संयोगास्ते-वियोगान्ता

संयोग और वियोग ये दोनों सृष्टि के प्रमुख अंग है। यह ध्रुव सत्य है कि जिस वस्तु का संयोग होता है, उस वस्तु का वियोग भी निश्चित रूप से होता है।

धन प्राप्ति एक संयोग है तो इसका वियोग भी अवश्यमेव होता है। संयोग और वियोग में अविनाभाव, अविच्छिन्न संबंध है। अर्थात् सांसारिक संयोगों के साथ वियोग अवश्य होगा।

अतीत की ओर दृष्टिपात करें तो हमें ज्ञात होगा कि बड़े-बड़े ऐश्वर्य सम्पन्न राजा-महाराजाओं के भण्डार हीरे-जवाहरात, सोने-चाँदी से भरे रहते थे। विचित्र चित्रकारियों से सुसज्जित शोभनीय महल जिनके निवास स्थल थे। शीशमहल और हजारों हजार सेवक, अगणित हाथी-घोड़े-सिपाही। खम्मा-खम्मा करने वाले हजारों मुख और नमने वाले हजारों मस्तक। भौतिक ऐश्वर्य और ऋद्धि का कोई पार नहीं था। यह सब संयोग था, पर आखिर इनको वियोग में परिणित होना ही था।

आज हीरे और जवाहरात के भण्डार रिक्त हो चुके हैं। शोभनीय महलों की स्मृति प्रत्यक्ष परिलक्षित खण्डहर दिखा रहे हैं। जिनकी स्थिति अब नष्ट प्रायः है। इतिहास और पुरातत्व विभाग ही जिनकी स्थिति को विज्ञापित करने का एकमात्र साधन रह गया है। बड़े-बड़े चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेवों की समृद्धि, शक्ति भी नष्ट हो चुकी है, जो कि एक संयोग था।

विश्व की प्रत्येक वस्तु एक संयोग है—मकान का बनना एक संयोग है, पुत्र का पैदा होना एक संयोग है, धन-ऐश्वर्य की उपलब्धि एक संयोग है। नये-नये आविष्कार करना एक संयोग है। इन सबके अन्तर्गत वियोग सन्निहित है। संयोग और वियोग की अनिवार्यता के साथ यथायोग्य जड़त्व तथा चैतन्यत्व की ध्रुवता तो रहती है।

जिसकी उत्पत्ति हुई है, उसका विनाश निश्चित है। जिसका निर्माण हुआ है उसका विध्वंश अवश्य होगा। जन्म लेनेवाली आत्माओं का मरण निश्चित है। संसार एक ऐसा यंत्र है, जिसमें संयोग-वियोग का चक्र निरन्तर परिभ्रमण करता रहता है।

गाड़ी जब प्लेटफार्म पर आती है, तब तक सारे यात्रियों का स्टेशन पर संयोग बना रहता है, किन्तु ज्योंही गाड़ी स्टेशन से छूट जाती है तो सारा दृश्य वियोग में परिणित हो जाता है। समूह का बिखराव हो जाता है।

आज का मानव संयोग की ओर दौड़ रहा है। सर्जन की ओर अपनी शक्ति का अपव्यय कर रहा है। धन-सम्पत्ति, परिवार आदि के संयोग पाने में अपनी ऊर्जा को नष्ट कर रहा है। वियोग को भूल रहा है। विसर्जन की ओर उसका ध्यान ही नहीं है। इसीलिये दुःखी, संतप्त, उत्पीड़ित बन रहा है। सुख-शांति केवल अभिलाषा मात्र रह गई है। विचारों तक ही सीमित रही हुई है।

जब तक मानव संयोग के साथ वियोग को नहीं समझेगा। सर्जन के साथ विसर्जन को नहीं जानेगा। उत्पत्ति के साथ विनाश को नहीं सोचेगा, तब तक यह निश्चित है कि वह सुखी, शांत नहीं बन सकता। संयोग-वियोग को समझना होगा अन्तःकरण पूर्वक, मानसिक एवं बौद्धिक रूप से ही नहीं। मानव का अनन्य प्रिय जो यह शरीर है, जिसे वह अपने-आपसे अभिन्न समझ रहा है, जिस सुख के लिये आजन्म, अहर्निश प्रयत्नशील है वह भी एक संयोग ही है, जो कि अन्ततः वियोग के रूप में परिणमित होगा। विनाश हो जायगा— इस अनन्य प्रिय शरीर का।

मानव को जब यह अनुभूति आत्मपरक होगी, तब वह शरीर से उपेक्षित बन जायगा। आधि-व्याधि-उपाधि के रोगों से परे हो जाएगा—अनुपम समाधि में रमण करने लगेगा। □

# साधना में बाधक यशोलिप्सा

साधना पथिक, साध्य सिद्धि के लिये विविध विधाओं में प्रयत्नशील रहते हैं। कई साधक घण्टों तक धूप में आतापना लेकर साधना करते हैं तो कई अग्नि की आतापना लेते हैं। कई वृक्षों पर अधोमुख लटककर साधना करते हैं। कई आकाश दर्शन की साधना करते हैं तो कई नीति दर्शन की साधना करते हैं।

दुःसाध्य, महाकष्टदायक साधना करने में भी जिस साधक का मन नहीं हिचकिचाता, तनिक भी अकुलाहट नहीं होती, वही साधक थोड़ी-सी यशोलिप्सा के पीछे उद्विग्न हो उठता है। यशोलिप्सा साधना का एक बहुत बड़ा बाधक तत्व है।

यह एक अत्यन्त विषाक्त काँटा है, इसके लग जाने से साधक की सारी साधना ही भयंकर विषाक्त बन जाती है। यह एक ऐसा घुन है कि जिसके लग जाने पर साधक की सारी साधना थोथी हो जाती है। यह एक ऐसा कीटाणु है जो साधक के साधना शरीर को विनष्ट कर डालता है।

साधना करने वाले तथा कथित साधक के मन में यह कामना, अभीप्सा किंवा उत्कट इच्छा होती है कि लोग मेरी प्रशंसा करें। मैं जगत् विख्यात साधक बन जाऊँ।

निश्चित समझिये ऐसे व्यक्ति की साधना न रहकर भौतिकी आराधना बन जाती है। साधक का मानस उससे शांत-प्रशांत न बनकर और अधिक अशांत, उत्पीड़ित होता हुआ लक्ष्य भ्रष्ट हो जाता है।

बड़े-बड़े तथाकथित योगियों एवं साधकों के मन का भी यदि सूक्ष्मता से अध्ययन किया जाय तो ज्ञात होगा कि इतनी बड़ी साधना करने वाले, दीर्घ तपश्चर्या करने वाले, आचरण की उत्कृष्टता को लिये हुए उन साधकों की मानस गुफा के किसी-न-किसी कोने में यश की अभीप्सा अपना स्थान जमाए हुए बैठी है।

थोड़ी-सी भी यश, कीर्ति में कमी हुई, थोड़ा-सा भी उनके विपरीत किसी ने कुछ कह दिया, तब देखिये क्रोध-महाज्वाला उन साधकों के मुँह से किस प्रकार फूट पड़ती है। लम्बी-लम्बी तपस्याएँ एवं संयमीय उत्कृष्टता का आचरण एक अभिनय मात्र रह जाता है।

जब तक यशोलिप्सा की संभावनाएँ अन्तरंग से समाहित/शमित नहीं होंगी, तब तक साधक की साधना का महल सुस्थिर नहीं रह सकता। □

जन को रिझाने के लिये मधुर संगान चाहिये।
राज्य को चलाने के लिये योग्य प्रधान चाहिये।
भक्त तो बहुत हैं इस विशाल दुनिया में, पर—
भक्ति करने के लिये सही भगवान चाहिये॥

# उन्नति का अवरोधक वैचारिक असहिष्णुता

मानव का मन इतना दुर्बल होता है कि थोड़ी-सी प्रशंसा की जाय तो खुश हो उठता है और थोड़ी-सी आलोचना की जाय, उसके आचरण एवं वक्तव्य के प्रति तनिक सी उपेक्षा बताई जाय तो उसका मन नाखुश/उद्विग्न हो उठता है।

सारा उत्साह एवं कार्य का प्रवाह ही उसका ठप्प हो जाता है। उन्नति का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है। विचार कुंठित हो जाते हैं। यह मानसिक दुर्बलता ही व्यक्ति के उन्नति मार्ग की अवरोधक बनती है।

अपने आपकी उन्नति के लिये यह परमावश्यक है कि मानव अपने विचारों को संशोधित करे, प्रतिक्रिया को समझने की क्षमता प्राप्त करे एवं अवरोधक तत्वों को हटाकर द्विगुणित उत्साह के साथ प्रगति के पथ पर बढ़ता ही जाये।

निश्चत रूप से ऐसा मनुष्य अपने विकास की कुंजी प्राप्त कर लेता है। लक्ष्य वरण करने में सफल हो जाता है। □

शंका ही न हो तो समाधान क्या हो सकता है?
वस्तु ही न हो तो दान क्या हो सकता है?
कितना ही पुरुषार्थ भले क्यों न करले मानव,
योग्यता ही न हो तो भगवान क्या हो सकता है?

# सबसे बड़ा काँटा

शरीर के किसी भी अंग-प्रत्यंग में थोड़ा-सा भी दर्द हो जाता है तो पूरा शरीर उस दुःख से पीड़ित हो उठता है। सारी इन्द्रियाँ उसी दुःख, दर्द, पीड़ा को मिटाने की ओर केन्द्रित हो जाती हैं।

पैर में एक छोटा सा काँटा भी लग जाता है तो व्यक्ति उसे देखने को उद्विग्न हो उठता है, हाथ उसे निकालने के लिये तत्क्षण तत्पर हो उठते हैं। मन की सारी गति उसी ओर केन्द्रित हो जाती है। स्पष्ट है शरीर के किसी भी कोने में उत्पन्न हुआ रोग घातक प्रहार करता है।

इसी प्रकार आध्यात्मिक दृष्टि से विचार किया जाय तो आत्मा अक्षय गुणों का खजाना है। रोग रहित सुख का महान् स्रोत है अर्थात् आत्मिक सुख अखंड है, अविकारी है, अक्षय है, निराबाध है। किन्तु कर्म रोग की भयंकरता उस आत्मिक शक्ति को आच्छादित किये हुए है जिससे मानव सुख के स्थान पर दुःख की अनुभूति कर रहा है, शांति न पाकर अशांत बन रहा है।

जब तक कर्मों के भयंकर रोग आत्मा से हट न जायें, आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप में न आ जाय, तब तक परम् शान्ति की अनुभूति नहीं हो सकती।

जब शरीर के किसी भी अंग में एक काँटा भी चुभ जाता है तो सारा शरीर पीड़ित और अशान्त बन जाता है तो आत्मा को एक ही काँटा नहीं अपितु महाभयंकर कर्मों के आठ एवं छोटे-छोटे असंख्य काँटों के जाल आच्छादित किये हुए हैं जिनकी कल्पना करना भी शक्य नहीं है। ऐसी आत्मा परम् शान्ति एवं स्थिरता का अनुभव कैसे कर सकती है?

बड़े-बड़े महायोगियों ने आत्मा के सुख और शांति के अनन्त स्रोत को प्रकट करने के लिये कर्मों के काँटों को निकालने के लिये शरीर की भी उपेक्षा की है।

परम योगी प्रभु महावीर ने भौतिक स्थिति को त्यागकर भयानक अटवियों में परिभ्रमण किया। दैविक, मानुपिक, तैर्यंचिक कठोरतम परीपहों/यातनाओं का सहर्ष डटकर सामना किया। कष्टों को समभाव से शमित कर कर्म कंटकों को निकाल कर वाहर फेंक दिया। ज्ञान का अलौकिक प्रकाश प्रकट हुआ। सुख का अनन्त स्रोत फूट पड़ा।

आवश्यक है कि हम जीवन की उपादेयता को समझें, आन्तरिक काँटों को निकालने का प्रयास करें।

जव तक एक भी कर्म का काँटा आत्मा के साथ संवद्ध रहेगा, तव तक आत्मा अपना परिपूर्ण स्वरूप उजागर नहीं कर सकेगा।

जिस प्रकार एक छोटा-सा काँटा सारे शरीर को पीड़ित कर सकता है, उसी प्रकार कर्म का एक काँटा भी आत्मा की परिपूर्ण प्रज्जवलता में वाधक वन जाता है।

भगवान महावीर ने यही कहा है जव तक कर्म का आंशिक कण भी आत्मा से चिपटा हुआ है, तव तक परिपूर्ण मुक्तानंद प्राप्त नहीं किया जा सकता।

जीवन को समझें, आदर्शों को जानें। मन की पटरी पर चिन्तन की ट्रेन चलाएँ और आत्मगुणों के सेन्टर विभिन्न स्टेशनों को पार करती हुई वह अन्ततः मुक्ति के महानगर में पहुँच जाय। □

सिंहनी के दूध को पाने के लिये स्वर्ण-पात्र चाहिये।<br>
दूध-पानी अलग करने के लिये हंस चोंच चाहिये।<br>
जुड़े हुए एक दूसरे के परस्पर कर्म मैल से—<br>
आत्मा को अलग करने के लिए ज्ञान-चारित्र चाहिए।

# इन्द्रियों का विषयों के प्रति आकर्षण

मुँह के द्वारा ग्रहण किया हुआ आहार, आन्तरिक प्रक्रिया से सप्त धातु के रूप में परिणित हो जाता है। यदि गृहीत आहार का यथायोग्य विभागीकरण नहीं हो तो देह स्वस्थ नहीं रह सकती।

इसी प्रकार इन्द्रियों द्वारा अपना-अपना विषय ग्रहण किया जाता है। कान प्रत्येक शब्द को श्रवण करता है, लोचन प्रत्येक दृश्य पदार्थ का अवलोकन करता है। घ्राण गंधित सुरभि और दुरभि दोनों ही को ग्रहण करती है, रसना सभी (पाँच) प्रकार के स्वाद ग्रहण करती है। स्पर्शना स्पर्श संबंधी विषय अनुभूत करती है।

इन्द्रियों का कार्य ही यही है अपने विषय को ग्रहण करना। इन्द्रियों द्वारा ग्रहीत कार्य का यथायोग्य विभागीकरण करना भाव मन, चैतन्य का कार्य है। उन विषयों का यथार्थ विभागीकरण न होने पर आंतरिक जीवन स्वस्थ नहीं रह सकता। अशान्ति, उद्विग्नता, दुःख बढ़ेगा ही, कम नहीं हो सकता। प्रत्येक मनुष्य के पास पांचों इन्द्रियां विद्यमान हैं, जिससे वह ऐन्द्रियक विषय ग्रहण करता है, किन्तु उनका यथायोग्य विभागीकरण नहीं कर पा रहा है। फलस्वरूप आंतरिक जीवन रोगग्रस्त बनता जा रहा है।

कर्ण द्वारा ग्रहीत प्रशंसात्मक-अप्रशंसात्मक शब्दों का विभागीकरण करें। आंखों द्वारा ग्रहीत मनोज्ञ-अमनोज्ञ चित्रों की पौद्गलिकता पर विचार करें। घ्राण ग्रहीत सुरभि-दुरभि के परिवर्तन पर चिन्तन करें। रसना गृहीत रसों का विभागीकरण करें। त्वचा से संबंधित स्पर्शों को समझें, यह आवश्यक है। □

# सर्वे गुणाः कांचनमाश्रयन्ति

किसी सूक्तिकार ने एक सूक्ति में कहा है--

"सर्वे गुणाः काञ्चनमाश्रयन्ति"

व्यक्ति के सभी गुण भौतिक धन, स्वर्ण-रजत-हीरे-जवाहरात, चल और अचल सम्पत्ति के आश्रित हैं।

वर्तमान युग के परिप्रेक्ष्य में देखा जाय तो यह उक्ति शत-प्रतिशत घटित हो रही है। जिस व्यक्ति के पास धन-दौलत है, सत्ता और सम्पत्ति है, चाहे वह कितना ही वज्र मूर्ख हो, वर्णमाला का ज्ञान भी न हो, फिर भी उसे सुख की सारी भौतिक सामग्री प्राप्त है। मखमल के कालीन पर आराम से शयन करता है, बड़े-बड़े पोथी-पण्डित भी उसकी सेवा में खड़े रहते हैं। सेवा-चाकरी करते रहते हैं।

धनिक चाहे कितना ही अवगुणी, व्यसनी, अत्याचारी, व्यभिचारी हो, अवगुणों का खजाना हो, किन्तु उसके सारे अवगुण सोने चाँदी की जगमगाहट के नीचे छिप जाते हैं, दब जाते हैं। गटर में कितनी भयंकर दुर्गन्ध भरी हुई है, किन्तु ऊपर तो ढक्कन लगा है, रंग रोगन किये हुए हैं, सेन्ट छोड़ी हुई है तो मनुष्य उस स्थान तक पहुँच जाता है। यह नहीं सोच पाता कि इसके नीचे क्या है?

आज प्रायः मानवों की दृष्टि पर धन का रंगीन चश्मा लगा हुआ है। उनके सारे ही जीवन का आधार, सुख का प्रमुख केन्द्र ही धन बन गया है। जब तक मानव की दृष्टि पर धन का रंगीन चश्मा रहेगा, मानसिक स्थिति धन की लालसा में लगी रहेगी, तब तक उसके यथार्थ गुणों का प्रकटीकरण नहीं हो सकेगा।

धनी व्यक्ति उन्हीं पण्डितों का, ज्ञानियों का, योगियों का, बुद्धिमानों का तभी तक पूजनीय, वन्दनीय होता है जिनके मन में धन की लालसा होती है या भौतिक तत्वों को पाने की अभिलाषा होती है।

धन की लालसा ही पण्डितों की पंडिताई ढक देती है, ज्ञानियों के ज्ञान को आच्छादित कर देती है, योगियों का योग आवृत कर देती है। बुद्धिमानों की बुद्धि को नष्ट कर देती है। धन लालसा का यह छोटा-सा अवगुण इन बड़े-बड़े पण्डितों को, ज्ञानियों आदि के गुणों को आच्छादित कर देता है। वे सभी धनिकों के निन्दनीय एवं दयनीय बन जाते हैं।

इस सूक्ति का इस प्रकार से अर्थ किया जाय तो अधिक उचित होगा कि धन की लालसा ज्ञानियों के ज्ञान को, पण्डितों की पंडिताई को, योगियों के योग को ढक देती है। सभी गुण उसके आश्रित हो जाते हैं।

यदि मानव को मानवीय स्थिति प्राप्त करनी है। अन्तर के गुणों को उजागर करना है तो धन की, भौतिकता की अंशतः लालसा, आसक्ति को भी त्यागना होगा।

जब व्यक्ति संसार की सारी वस्तुओं, सारे तत्वों से निर्लिप्त होकर मात्र आत्म जागरण की ओर मुड़ता है तो धनिक ही क्या संसार के समस्त प्राणी उसके चरणों में झुक जाते हैं। संसार की सारी भौतिक सम्पदा उसके चरणों में लोटने लगती है। जो धन उसके गुणों को ढक रहा था, उसी के हटाने से व्यक्ति के आत्म-गुण निखर जाते हैं। □

# रूई और लोहा

व्यक्ति अपने विचारों से ही ऊपर उठता है और अपने ही विचारों से अध:पतन की ओर गतिमान होता है । जब विचार भारी बनते हैं, पापकारी होते हैं, नीति-अनीति के विवेक से शून्य होते हैं तो व्यक्ति पतन की ओर चला जाता है और जब विचारों में उर्ध्वता आती है, जब वे पुण्यकारी होते हैं तब व्यक्ति उर्ध्वारोहण करता है, ऊपर की ओर उठता है ।

रूई हल्की होती है अत: ऊपर उठती है । आकाश में गमन करने लगती है और एक तरफ लोहे का एक छोटा-सा टुकड़ा यदि आकाश में उछाल भी दिया जाय तो भी वह नीचे ही गिरता है ऊपर नहीं रह सकता । क्योंकि वह भारी है । भारी पदार्थ ऊपर नहीं जा सकता ।

इसी प्रकार विचारों में जितना हल्कापन होता है, विषमता के विचारों का जितना विलीनीकरण होता है, समता भाव स्फुरित होते हैं उतना ही जीवन ऊपर की ओर उठने लगता है, उन्नति के चरण चूमने लगता है। किन्तु जब विचारों में विषमता, अनैतिकता, छल-कपट भरा है तो वह उतना ही भारी बनता हुआ अध: पतन की ओर अग्रसर हो जाता है । □

आज का युग समुद्र में कागज की नाव-सा है ।<br>
आज का युग पानी विलोकर मक्खन चाह रहा है ।<br>
आज के युग की बातों को जाने दो सुज्ञो,<br>
आज का युग पत्थरों में भी कमल खिला रहा है ।।

# मानस चित्रपट

श्वेत पट पर जब सर्चलाइट का फॉक्स फेंका जाता है और फिल्म का प्रारम्भ किया जाता है, तब एक के बाद एक चित्र अनेक रंगों में उभरने लगते हैं। तन्मय बनकर मनुष्य उसका अवलोकन करता रहता है। अनेक द्रष्टा व्यक्ति तो उन्हीं चित्रों के अनुसार गति-प्रक्रिया भी करने लग जाते हैं जिसे देखकर अन्य अनेक व्यक्तियों के उन्मुक्त हास्य के फव्वारे फूट पड़ते हैं। उनकी दृष्टि में वह व्यक्ति अज्ञ एवं मूर्ख ही समझा जाता है।

कुछ अन्तरावलोकन किया जाय तो स्पष्ट ज्ञात होगा कि मानव के मानस पटल पर भौतिकता के रंगीन चित्र एक के बाद एक क्रम से उभर रहे हैं। विश्व का प्राणी उनका अवलोकन कर रहा है। कभी चंद चाँदी के टुकड़ों का सुनहला आकर्षण उसे खींच रहा है, तो कभी पारिवारिक संबंध उसे जकड़ रहा है, तो कभी क्षणिक सुख के रंगीन सपनों में वह खो रहा है और उन्हीं पर दृष्टि जमाए हुए है वह आदि।

अगणित विचार चित्र मानव के मानस पटल पर आ रहे हैं। परन्तु जब तक वह द्रष्टा भाव से उन्हें देखता रहता है, तब तक तो यथार्थ चिन्तन का प्रवाह धूमिल नहीं बनता है। किन्तु जब वह द्रष्टा भाव को छोड़कर भौतिकता के मानस चित्रों को आचरण की परिधि में उतार डालता है तो उसकी भी स्थिति उसी प्रकार बनती है, जिस प्रकार सिनेमा घर में बैठे अनभिज्ञ व्यक्तियों की।

आज व्यक्तियों की स्थिति क्या बन रही है? वे इन भौतिकता के चलचित्रों को समझ नहीं पा रहे हैं। उन्मत्त बनते हुए उसी प्रकार के आचरण करने में संलग्न हो रहे हैं। ऐसे मानव अपनी मूल स्थिति को विस्मृत करते चले जा रहे हैं। वे यह नहीं समझ पा रहे हैं कि मानस चित्रपट निपट श्वेत है। रंगीनीकरण भौतिकता का है। इस रंगीनीकरण

के सुनहले जाल में फंसना दुःख और उद्वेग को ही बढ़ावा देना है। आज का मानव शोषित, पीड़ित एवं उत्पीड़ित दिखलाई देता है। इसका मूल कारण यही है कि उसने अपने मानस की उज्ज्वलता को नहीं पहिचाना है ।

आत्मिक सर्चलाईट के प्रकाश का मानसिक उज्ज्वलता की ओर, चेतना के उर्ध्वीकरण की ओर प्रयोग होना चाहिये । दुःख उद्वेग की समाप्ति एवं शांति व सुख की अवाप्ति तभी सम्भावित है।

सुख के सच्चे जिज्ञासु को अन्ततः इसी मार्ग का अनुसरण करना होगा । □

आज नये - नये साहित्यों की भरमार है।
आज नये - नये विचारों का अंबार है।
आचार और व्यवहार के तम्बू उखड़ते जा रहे हैं,
आज नये - नये परिवर्तनों का ही विस्तार है ।।

# समता

तीन अक्षरों की समायोजना का रूप स+म+ता समता है। प्रत्येक अक्षर आत्मीय स्वरूप की विराटता एवं व्यापकता की संसूचना करता है। केवल एक समता शब्द का पूर्ण अर्थ यदि मानव की चेतना में साकार रूप धारण कर ले तो मानव से महामानव बन जाय, नर से नारायण बन जाय, आत्मा से परमात्म-पद को प्राप्त कर ले।

विचारों के प्रवाह में समता शब्द के अक्षरों का सांकेतिक अर्थ इस प्रकार प्रादुर्भूत हुआ—

स=समानता

म=मनुष्यता (मानवता)

ता=परित्याग (तामसिक वृत्ति का)

जगत की अखिल आत्माएँ एक समान हैं। भगवान महावीर का उद्घोष है—'एगे आया', आत्मा एक है।

संसार की अनंतानंत आत्माएँ एक हैं। तात्पर्य यह है कि जगत् की सारी ही आत्माओं का मौलिक स्वरूप एक समान है। जो कुछ भी अन्तर परिलक्षित होता है, वह कर्मों का है। जैन दर्शन का यह सिद्धान्त है कि 'कडाण कम्माण न मोक्खअत्थि' कृत कर्मों के भोगे बिना मुक्ति नहीं हो सकती। आचार्य अमितगति ने भी कहा है—

स्वयं कृतं कर्म यदात्मना पुरा
फलं तदीयं लभते शुभाशुभम्।

आत्माएँ कर्म वश होने से लोकगत आत्माओं के मुख्यतः दो भेद हो जाते हैं—कर्मबद्ध आत्माएँ और कर्ममुक्त आत्माएँ। कर्मबद्ध आत्माओं में भी कर्मों की विभेदता से विभिन्न विभिन्नताएँ दृष्टिगत होती हैं। सुखी-दुखी, निर्धन-धनी, विद्वान-मूर्ख आदि का तो मनुष्यों में ही भेद है। इसके अतिरिक्त तिर्यंच, मनुष्य, देव के भेद-प्रभेदों की अपेक्षा से तो आत्माओं की असंख्य विभिन्नताएँ बन जाती हैं।

ये सब विभिन्नताएँ मौलिक नहीं हैं। मूलतः आत्माओं का उपयोगमय लक्षण होने से सारी आत्माएँ एक जैसी ही हैं। 'स' अक्षर इसी समानता का संसूचन करता है।

'म' शब्द मनुष्यता का प्रतीक है। विश्व के निखिल प्राणियों में मानव ही एक ऐसा प्राणी है जो उन्मुक्त चिन्तन कर सकता है। चिन्तन ही नहीं, मनन एवं अनुशीलन के अनुसार आचरण की परिधि में भी उतर सकता है।

सभी धर्मशास्त्रों ने मानव को सर्वश्रेष्ठ प्राणी माना है। भगवान महावीर ने भी अपनी 'अपुट्ठ वागरणा' में आत्मा के दुर्लभ अंगों की प्राप्ति के वर्णन में मानव तन को दुर्लभ प्रतिपादित किया है—

चतारि परमंगाणि, दुल्लह हाणि यजंतुणो।
माणुसतं सुइसद्दा, संजमम्मि य वीरियं।

इसीलिये 'म' अक्षर मानवता किंवा मनुष्यता के रूप में सामने आया। मानव में जब तक मानवीय स्वरूप उजागर नहीं होता, तब तक वह मानव मानव नहीं कहला सकता। पाषाण प्रतिमा को किसी भी नाम से सम्बोधित किया जाय वह अर्थ क्रियाकारी नहीं होता। उसी प्रकार मानव में जब तक मानवीय आस्था (मनुष्यता के गुण) नहीं आती तब तक वह मानव कहलाने योग्य नहीं रहता।

नीतिकार ने सत्य कहा है:—

आहार निद्रा भय मैथुनं च,
सामान्यमेतत् पशुभिः नराणां,
धर्मोहितेषामधिको विशेषो,
धर्मेण हीना पशुभिः समाना।

धर्म की प्राप्ति भी तभी हो सकती है, जब मानव में मानवता हो। मानव में चरम लक्ष्य तक पहुँचने के लिये पुरुषार्थ करने की परिपूर्ण क्षमता होती है। वह स्वात्मकल्याण के साथ पर-कल्याण भी कर सकता है।

ज्ञान की अलौकिक आभा मानव देह में विद्यमान आत्मा से ही उजागर होती है। अतः 'म' अक्षर से मानवता-मनुष्यता को गृहीत किया है।

'ता' अक्षर तामसिक वृत्तियों का सूचन करता है जो आत्मा के स्वाभाविक स्वरूप को विकृत करता है । उसे सहजता से हटाकर असहजता में परिणित करता है । जिन वृत्तियों से मानव में उत्तेजना, अहंकार उभरता है, वे सारी वृत्तियां आत्मिक दृष्टिकोण से तामसिक कहलाती हैं ।

वे वृत्तियां मुख्य रूप से चार भागों में विभक्त हैं—क्रोध, मान, माया और लोभ । क्रोध से सौजन्य/क्षमा, मान से अहंकार, माया से वंचकता एवं लोभ से अतुच्छ लिप्सा की वृत्तियों का प्रादुर्भाव होता है । ये वृत्तियां जीवन के सात्विक गुण—क्षमा, विनय, सरलता एवं संतोष को क्षत-विक्षत कर देती हैं । जिससे व्यक्ति दुखी, संतप्त, तनाव युक्त बनता चला जाता है । अतः मानव को जीवन के परिपूर्ण लक्ष्य को उजागर करना है तो समता शब्द पर गहरे मंथन के साथ जीवन को तदनुरूप क्रियान्वित करना होगा । यथा—

साम्य भाव की चरम साधना मानवता से बनती है ।
तामसवृत्ति जब दूर हो मन से, आत्म लक्ष्य तब बनती है ।।

अनन्त-अनन्त श्रद्धास्पद गुरुदेव आचार्य भगवन् श्री नानालालजी म० सा० ने विश्वशांति के लिये समता के धरातल पर जो अभिनव चिन्तन प्रस्तुत किया है, उसका चिन्तन-मनन के साथ अनुशीलन किया जाय तो जन-जन के समस्त प्राणियों में चिर अभिलषित शांति समीर प्रवाहित हो सकता है । □

# शिक्षित कैसे बनें ?

जिन तत्वों के बीच मानव की उत्पत्ति हुई है, उन तत्वों का स्वरूप भी मानव स्पष्ट रूप से समझ नहीं पा रहा है । शिक्षा पाने के लिये वह गुरुकुल अथवा महाविद्यालयों में पहुँचता रहा है, तथापि योग्य शिक्षित नहीं बन सका । हाँ; वह स्नातक, अधि स्नातक, डाक्टरेट आदि की डिग्रियाँ प्राप्त कर लेता है, किन्तु उसका चिन्तन शिक्षा की तह तक नहीं पहुँच पाता । यदि मानव का चिन्तन कुछ प्राकृतिक बन जाये तो उसे शिक्षित बनने के लिये किसी बंधन में बंधना ही न पड़े । स्कूल-कालेज किंवा गुरुकुलवास भी एक बन्धन है ।

प्राकृतिक वस्तुएँ ऐसी हैं जो मानव को अपने आप ही शिक्षित बना देती हैं । होना चाहिये उन्मुक्त और सहज चिन्तन ।

जिस पृथ्वी पर वह जन्मा है, उसके लिये विचार किया जाय । जिस धरा पर जन्म लेने के पश्चात् वह रहता है, खाता है, पीता है, उठता-बैठता है, चलता है, उद्योग करता है, यही नहीं अशुचि विसर्जन करता है, तब भी पृथ्वी में किसी प्रकार का कोई परिवर्तन नहीं आता । क्षमा भाव से सारी ही स्थितियों को वह सहन कर लेती है । मानव इस पृथ्वी को समझते हुए अपने जीवन की बदलती हुई परिस्थितियों में समत्व से रहने की शिक्षा प्राप्त कर सकता है ।

जल का स्वाभाविक गुण शीतलता है । जब जल हर उष्णता को शीतल करने की क्षमता रखता है, अग्नि जैसी प्रचण्ड उष्णता को भी अपनी शीतलता से शांत कर देता है, तब मानव क्यों नहीं अपने स्वभाव को शीतल कर लेता है, शांत बना लेता है । क्यों न हर उष्णता-उत्तेजना को अपनी शीतलता से प्रतिहत कर देता है ।

भगवान महावीर ने अपने आपको इतना शीतल, शांत बना लिया कि उनके सामने उष्णता, उत्तेजना किंवा क्रोध की धधकती ज्वाला टिक ही नहीं पाई । चण्डकौशिक जैसा महाक्रोधी भी प्रभु

की शीतलता, प्रशान्तता के सामने झुक गया, शांत हो गया। यह शीतलता व्यक्ति के जीवन को गुणों का आगार बनाती है। साथ ही सम्पर्क में आने वाले प्राणी को भी अपने रंग में मिलाकर उसकी आक्रोश भरी वृत्तियों का शमन कर कल्याणकारी पथ प्रशस्त कर देती है।

अग्नि में उष्णता, तेजस्विता तथा सर्व भक्षीपन होता है, वैसी ही संकल्पात्मक अग्नि मनुष्य के शरीर में भी है। आवश्यकता है उस विशाल भट्टी को समझने की तथा संकल्प को मजबूत करने की। मनुष्य अपने विकारों को इसमें जलाकर भस्म करने के लिए दृढ़ संकल्पी बन जाय। दुर्गुणों को हटाने के लिये, अज्ञानांधकार का विनिवारण करने के लिये तथा आत्मिक ज्ञान की तेजस्विता को प्रकाशमान करने हेतु तेज पुञ्ज बन जाय।

वायु निरन्तर जीवित व्यक्ति के साँस की तरह प्रवाहित होती रहती है। उसकी उपयोगिता जीवन में अपरिहार्य रूप से रही हुई है। बिना अनिल के प्राणी की प्राणवत्ता टिक नहीं सकती। मानव भी प्रगति की दिशा में निरन्तर वायु की तरह बहता ही चला जाये। वह अपने जीवन को इतना उपयोगी बना ले कि संसार का सारा प्राणीवर्ग उसको उपयोगी समझने लग जाय।

वनस्पति का प्राकृतिक जीवन तो सबसे निराला है। उसकी प्रत्येक प्रक्रिया मानव के लिये बहुत उपयोगी और शिक्षाप्रद है। कंटकाकीर्ण पुष्प उसे दुःखों में भी हंसना सिखाते हैं। आम्रवृक्ष गुणों की प्राप्ति के साथ ही झुकना सिखाते हैं। पत्थर फेंकने वालों को फल प्रदान करने वाले वृक्ष, उसे दुःख देने वाले व्यक्तियों पर क्षमा गुण की वर्षा करना सिखाते हैं। शीत व उष्ण अवस्था में भी निश्चल भाव से खड़े रहने वाले पेड़-पौधे हर परिस्थिति को सहन करना सिखलाते हैं। जीवन की हर उलझन को हम सहज ही में वनस्पति से प्राप्त होने वाले आध्यात्मिक ज्ञान से सुलझा सकते हैं।

अनन्त आकाश और पाताल के बीच में रहने वाला अदना-सा यह प्राणी यह नहीं समझ बैठे कि वह बहुत बड़ा गुणज्ञ है, अपितु

अपनी अभिमान वृत्ति का परित्याग कर विनम्र भाव को धारण करे।

यदि मानव इस प्रकार चिन्तन करे तो वह जीवन को वहुपयोगी तथा शिक्षित वना सकता है। सुख और शांति से जीने की कला प्राप्त कर सकता है।

अतीत के पृष्ठों को उलट कर देखा जाय, अध्ययन और मनन, चिन्तन किया जाय, तो यह वात स्पष्ट हो जाती है कि उस समय के नर पुंगवों ने उन प्राकृतिक वस्तुओं को निमित्त वनाकर आत्मिक गुणों को सजाया-संवारा था। यथार्थता के परिप्रेक्ष्य में मानव अपने आपको समझने का प्रयास करे, तो वह भी अपने जीवन को उन्नत एवं सुखी वना सकता है। □

आज तो गधा भी सिंह की खोल ओढ़ रहा है।
आज तो मानव भी पशु के बोल बोल रहा है।
आज तो काल चक्र भी उल्टा ही चल रहा है,
आज तो अमृत में भी मानव जहर घोल रहा है॥

# अंधविश्वास

जहाँ आज का मानव शिक्षित कहलाने का दावा करता है और विज्ञान के युग में जी रहा है, वहाँ वह प्राचीन अंध श्रद्धा को भी नहीं छोड़ पा रहा है ।

जब उनका रोग चिकित्सक, वैद्य, हकीम आदि अपनी औषधियों से दूर नहीं कर पाते हैं तो वह पहुँच जाते हैं देवी-देवरों तथा कथित मंत्र-तंत्रवादियों के चक्कर में । मंत्रवादी मंत्रों का जाप और तंत्रवादी डोरा-तावीज करता है । लेकिन वे मंत्र-तंत्र से उन रोगियों को स्वस्थ नहीं कर पाते ।

विश्व सम्राट कहलानेवाले सिकन्दर के शरीर में जब रोगोत्पत्ति हुई तो क्या नहीं किया गया ? वैद्य-हकीम-चिकित्सक-मंत्र-तंत्रवादी सभी तो पहुंच गये थे वहां पर, परन्तु परिणाम शून्य ही रहा । सम्राट की हालत बिगड़ती चली गई । एक समय वह आ गया कि सम्राट संसार भर की दौलत, राज-पाट, वैभव, ऋद्धि-सिद्धि को छोड़कर चल बसा । यह सब जानते हुए भी आश्चर्य है कि मानव अंधविश्वास के घेरे में घिरता ही चला जा रहा है ।

थोड़ा-सा व्यापार में नुकसान हुआ कि पहुँच जाता है ज्योतिषियों के पास ग्रह और नक्षत्र जानने, शनि और राहु को समझने एवं राहु-केतु की कोप दृष्टि को दूर करवाने के लिये । ज्योतिषी ने बता दिया कि साढ़े सात वर्ष का शनि का चक्कर और साथ ही शान्ति अनुष्ठान का व्यय और ढेर सारी वस्तुओं की सूची जिससे शनि का चक्कर टल जाय । और अनुष्ठान से फिर रोग मुक्ति, व्यापार में लाभ, यश-कीर्ति की वृद्धि, सन्तान-सुख की प्राप्ति, धन-सम्पदा का अतुल खजाना मिल जाने के आश्वासन और विश्वास के सुनहले जाल में फंस जाता है । परिणामस्वरूप चाहे उनकी मान्यता हो या न हो तथापि [illegible] भी ग्रह-शांति का बड़ा अनुष्ठान करवाता है और ज्योतिषियों

को भेंट-पूजा चढ़ाता है, परन्तु यह नहीं सोच पाता कि गगन विहारी ग्रह और नक्षत्रों को परिवर्तन करने की शक्ति क्या इस ज्योतिपी में है ? यदि है तो फिर वह स्वयं दरिद्रनारायण क्यों ? क्यों नहीं वह विश्व सम्राट बन जाता ? दूसरी तरफ क्या ग्रह और नक्षत्र उस अकेली जान के पीछे ही पड़े हुए हैं—सारा प्रकोप एक ही व्यक्ति विशेष को नहीं झेलना पड़ता ।

सूर्य के प्रकाश का प्रभाव एक व्यक्ति विशेष को नहीं मिलता । किन्तु मर्यादित क्षेत्रगत जड़ और चेतन को समान रूप से मिलता है । तो उसी प्रकार गगन विहारी अन्य ग्रह नक्षत्र का प्रभाव उस एक पर ही क्यों पड़ेगा । उसकी कोप दृष्टि का भाजन वह अकेला ही कैसे हो सकता है ? यदि उन गगन विहारी गृह नक्षत्रों का यत्किंचित प्रभाव भी पड़ेगा तो वह उस अकेले पर नहीं अपितु सब पर पड़ेगा । लेकिन वह इन सब बातों को भूलकर ग्रह-नक्षत्रों के प्रकोप की उपशान्ति में तथा कथित ज्योतिपियों द्वारा कथित अनुष्ठानों में लग जाता है । पर जब इन सबसे भी कुछ नहीं बनता तो वह भाग्य और ईश्वर के भरोसे बैठ जाता है । कहेगा—क्या करें, ईश्वर चाहेगा सो होगा । ईश्वर की इच्छा बिना संसार का एक पत्ता भी नहीं हिल सकता । ईश्वर ही सृष्टि का कर्ता है । वह खुश होगा तभी हम सुखी बन सकते हैं । आदि सोचते हुए बुजदिल बन कर निष्क्रिय बनता चला जाता है तथा अपने विश्वास और पुरुषार्थ को व्यर्थ ही में खो बैठता है । किन्तु यह नहीं सोच पाता कि परम पिता परमात्मा कहलाने वाला ईश्वर क्या कभी ऐसा कर सकता है ? क्या कभी इस पर विचार किया ? परम पिता परमात्मा, वीतराग देव, क्या कभी किसी को सुखी और दुखी बनाता है ? यदि वीतरागी ही किसी को सुखी-दुखी बनाने लग गये तो फिर वह वीतरागी कैसे ? जब एक पिता अपने किसी पुत्र को दुःखी नहीं बनाना चाहता तो परमात्मा किसी को दुखी कैसे बना सकता है ? लेकिन उसका अंधविश्वास मध्यस्थ विचार सरणि को ही समाप्त कर देता है । यह अंधविश्वास ही उन्नति के लिए बहुत बड़ी अर्गला है ।

इसके अतिरिक्त भी मानव के मन में अनेक अंधविश्वास पल रहे हैं। जादू-टोना-पूजा-पाठ-धूप-दीप आदि न जाने क्या क्या क्रियाएँ वह हमेशा करता रहता है।

जब तक मानव-मन में बैठे हुए अंधविश्वास दूर नहीं होंगे, तब तक यथार्थ चिन्तन करने की क्षमता उसमें जागृत नहीं हो सकती। वैज्ञानिक युग में मानव का चिन्तन भी पूर्ण वैज्ञानिक होना चाहिये। पुरानी गलतियों, गलत परम्पराओं से ग्रस्त मन को संशोधित और विश्लेषित करना चाहिये तथा सत्य-असत्य के तथ्य को समझने के लिये अन्वेषण की दिशा में आगे बढ़ना चाहिये। □

मकान को टिकाने के लिये नींव का आधार चाहिये।
प्रवेश करने के लिये उसमें मुख्य द्वार चाहिये।
मुक्ति नगर में भी प्रवेश पाने के लिये भव्यो!
शुद्ध आचार और विचार अवश्य चाहिये॥

# कस्तूरी मृग

वनचर जगत में कस्तूरी मृग एक विचित्र प्रकार का प्राणी होता है। उसके नाभि कमल में कस्तूरी की सुगन्ध महकती रहती है। जब वह सुरभि उसी के नासाग्रों में पहुँचती है तब वह सोचता है कि मन को पुलकित करने वाली यह सुगन्ध कहाँ से आ रही है ? इसे प्राप्त करना चाहिये। इसी विचार से उत्प्रेरित होकर वह अज्ञ मृग सतत इधर-उधर दौड़ लगाने लगता है, किन्तु वह भोला प्राणी यह नहीं जान पाता कि यह सुगन्ध बाहरी तत्वों से नहीं अपितु उसकी ही नाभि में रही हुई कस्तूरी की है। वह अपने आपको भूलकर बाहरी तत्वों में ही उसकी खोज में भटकता रहता है। अन्ततः वह दिन भी आ जाता है जब वह उस सुगन्ध, तत्व को पाए बिना ही अपनी जीवनलीला को समाप्त कर बैठता है।

आज के भौतिक जीवन की भी यही दशा है। मानव बाहरी तत्वों में सुख और शांति की तलाश कर रहा है। जिसके पास चिन्तनशील मस्तिष्क है, सोचने-समझने और कुछ करने की क्षमता है, उसका चिन्तन सही दिशा में गतिमान नहीं होने से वह यथेष्ट/अपेक्षित वस्तु की उपलब्धि नहीं कर पा रहा है।

विश्व का प्रत्येक मानव सुख और शांति का अभिलाषी है। आदि युग की ओर दृष्टि डालने पर ज्ञात होता है कि उस समय मनुष्य के पास खाने के लिए रोटी, पहनने के लिये कपड़ा तथा रहने के लिये मकान तक नहीं था, उसका जीवन पशु तुल्य था। तथापि वह आपेक्षिक सुखी और शान्त था। आज के मानव ने अपने चिन्तनशील मस्तिष्क का उपयोग किया तो रोटी, कपड़ा, मकान, व्यवसाय की कोई समस्या नहीं रही। आज तो मानव हवाई जहाजों से आकाश में गमन करने लगा है। मछली की तरह समुद्र में गोते लगाने लगा है। आज की दुनिया भी मानो उसे छोटी लगने लगी है। घर बैठे ही विश्व

भर के समाचार देख सकता है, पढ़ सकता है, सुन सकता है। मनोरंजन के क्षेत्र में अद्‌भुत वस्तुएँ मानव द्वारा आविष्कृत की गई हैं। सैकड़ों मनुष्यों का काम अकेली मशीन कर लेती है। मानों कम्प्यूटर तो मनुष्य का आज्ञाकारी सेवक ही बन गया है। भौतिक क्षेत्र में मानव ने पृथ्वी तो क्या अन्तरिक्ष को भी अपना क्षेत्र बनाया है लेकिन इतना सब कुछ करने के बाद भी मानव दु:खी है, उत्पीड़ित है, तनाव ग्रस्त है। आखिर क्यों ? सर्व साधनों के रहते हुए तो उसे सुखी होना चाहिये लेकिन स्थिति विपरीत है। जिस सुख के लिये मनुष्य इतना पुरुषार्थ कर रहा है, अविराम परिश्रम कर रहा है फिर भी सुख और शांति को प्राप्त नहीं कर सका है बल्कि अधिक दुख और अशान्ति से ग्रस्त है। जबकि इन सभी साधनों के अभाव में आदिम मानव सुख की नींद लेता था। आज निद्रा के लिये अनेक औषधियाँ लेकर भी मानव निद्रा नहीं ले पाता, यह सब क्यों ?

क्या कभी मानव ने इस पर विचार किया ? कस्तूरी मृग की अज्ञता पर तो हमें हँसी आती है, लेकिन हम क्या कर रहे हैं ? मृग कस्तूरी के लिए बाहर इधर-उधर दौड़ लगाता है, इसी तरह मानव भी सुख की खोज बाहरी भौतिक तत्वों में कर रहा है। फलत: सुख की उपलब्धि नहीं कर पाया। हो भी तो कैसे ? सुख तो स्वयं के अन्त में समाया हुआ है और दौड़ बाहर लगाई जा रही है। मृग तो अज्ञानी भोला पशु है, उसके पास मनुष्य की तरह विकसित मस्तिष्क, विकसित वाणी, मुक्त हंसी नहीं हैं किन्तु चिन्तक मानव की क्या स्थिति बन रही है ?

जब तक मानव अन्तर्मुखी नहीं बनेगा तब तक वह कितना ही पुरुषार्थ कर ले, उसका सारा प्रयत्न निष्फल रहेगा।

सुख-शान्ति का अक्षय भण्डार तो भीतर समाया हुआ है। □

# शान्ति पाने का अमोघ उपाय

अमेरिका का प्रसिद्ध उद्योगपति जेकुक हर परिस्थिति में प्रसन्न रहता, चेहरे पर सदा मुस्कान बिखरी रहती। एक बार उसके व्यापार में भारी घाटा (लोस) हो गया तथापि उसकी मुस्कराहट में, प्रसन्नता में कोई कमी नहीं आई। वित्त लाभ के समय वह जितना खुश था, हानि में भी उतना ही प्रसन्न।

एक बार उसकी मित्रमण्डली उसके पास पहुँची और उसे इतना प्रसन्न देखा तो उन्हें अत्यन्त आश्चर्य हुआ। आखिर उन्होंने उससे प्रसन्नता का कारण पूछ ही लिया। जेकुक ने उत्तर दिया—अप्रसन्नता की बात ही क्या? धन की लाभ और हानि से अपनी खुशी का क्या संबंध? धन, सम्पत्ति, सोना, चाँदी व भौतिक सम्पदा तो एक न एक दिन जाने वाली है। व्यापार में तो हानि और लाभ चलते ही रहते हैं। मित्रमण्डली जेकुक के विचार सुन कर अत्यन्त प्रसन्न हुई।

कालान्तर में पुनः ऐसा समय आया कि जेकुक को व्यापार में अकल्पित लाभ हुआ, फिर भी उसकी प्रसन्नता उसी रूप में बनी रही।

धन से अपनत्व का संबंध नहीं होने से जीवन में अशान्ति नहीं आती और अहंकार भी स्थान नहीं जमा पाता।

इसी रूपक का सैद्धान्तिक विश्लेषण किया जाय और विचार किया जाय तो हमें ज्ञात होगा कि हम स्वयं ही अपने सुख और दुःख के निर्माता हैं। हम अपने पुरुषार्थ से दुःख की दीर्घ परम्परा का उच्छेदन कर सुख की प्राप्ति कर सकते हैं और अपने ही गलत पुरुषार्थ से दुःख को बढ़ा सकते हैं।

जैन सिद्धान्त में कर्म की व्याख्या दो रूपों में की गई है—निकाचित कर्म और अनिकाचित कर्म। निकाचित कर्म तो

अनिवार्य रूप से भोगना ही पड़ता है, किन्तु अनिकाचित कर्म को सत् पुरुषार्थ से क्षय किया जा सकता है।

भारतीय संस्कृति की उज्ज्वलता कितनी उन्नत है, इससे सभी विदित हैं—जो देश ऋषि-महर्षियों का निवास-स्थल बना हुआ है, जहाँ सदा अध्यात्म की चर्चा होती रहती है, जीवन के हर पहलू पर गहरा मंथन होता रहता है, उसी देश में आज मानव की दयनीय स्थिति क्यों हो रही है? इसका मूल कारण क्या है?

जेकुक की जो स्थिति बनी, यदि वैसी ही स्थिति आज किसी भारतीय उद्योगपति की बन जाती, तो सम्भवत: उसका हार्टफेल हो जाता। क्यों? इसलिये कि उसने धन के साथ अपना गलत रिश्ता, नाता जोड़ रखा है। जो वस्तु उसकी है ही नहीं, उसे अपनी समझ बैठा है। थोड़ी-सी हानि या मन के प्रतिकूल बात हो जाती है तो मन बौखला उठता है। सारी मुस्कान और प्रसन्नता विलुप्त हो जाती है। चेहरे पर उदासी की एक गहरी रेखा उभर आती है। इसी कारण वह सुखी नहीं बन पाता।

अगर वह यह सोचले कि जो वस्तु उसकी है ही नहीं, उसे वह अपनी समझ कर क्यों दु:खी बने। धन, दौलत, परिवार, मकान आदि न उसके हैं और न कभी होंगे—ये तो एक दिन छूटनेवाले हैं। यहाँ तक कि उसका शरीर भी उसका अपना नहीं है। वह भी मिट्टी में मिल जाएगा। यह समझ अन्ततः उसमें आ जाय, तो कभी उसे दु:खी नहीं होना पड़ेगा।

जब कभी भी अशुभ कर्मों का उदय होता है, तो मन के प्रतिकूल स्थितियाँ सामने आती हैं। उस स्थिति में यदि समभाव से उन कर्मों के भोग को सहन कर लिया जाय तो भविष्य का जीवन सुख-मय बन जाता है। नवीन कर्मों का बन्धन नहीं होता। जैसे कर्जदार व्यक्ति नया कर्जा न लेकर पुराने कर्ज को चुका देता है, तो वह ऋण मुक्त हो जाता है। उसी प्रकार व्यक्ति उदीयमान कर्मों को भोगने में समभाव रखता है, तो अशुभ कर्मों के ऋण से मुक्त हो जाता है और पुनः कर्म का बन्धन नहीं होता है।

जेकुक ने अपने उदीयमान कर्मों को समभाव से भोगा तो पुनः शुभ कर्मोदय से सुखी बन गया। यदि मानव अशुभ कर्मोदय में म्लान मुख और तनावग्रस्त हो जाता है, तो कभी भविष्य में आने वाले पुण्य कर्म भी पाप कर्म के रूप में परिणित हो सकते हैं। भारतीय मानव दुःख से मुक्त इसीलिये नहीं हो पा रहा है कि वह मन के प्रतिकूल छोटी-से-छोटी परिस्थिति में स्वयं को संभाल नहीं पाता।

यदि व्यक्ति सदा सुखी रहना चाहता है और शांति के क्षणों में जीवन व्यतीत करना चाहता है, तो वह अपने आपको समझे। भौतिक तत्वों से अपना संबंध स्थापित न करे। हर परिस्थिति को प्रसन्नता के साथ सहन करने का प्रयास करे। ऐसा व्यक्ति सदा के लिये सुखी और शांत बन जाता है। दुःख की परम्परा से मुक्त होकर सुख के उपवन में रमण करने लग जाता है। □

दुर्जन सज्जनता का मुखौटा ओढ़े हुए हैं।
विष कुंभ पर अमृत का ढक्कन लगाए हुए हैं।
मुर्झाए मुंह पर मुस्कराहट बनाए हुए हैं।
दुःखी जीवन में प्रसन्नता का साज सजाए हुए हैं॥

# जेनरेटर चेतना

वैज्ञानिक युग का मानव प्रत्यक्षीकरण के विना किसी वस्तु के अस्तित्व को स्वीकार करने में सहसा तैयार नहीं होता। जव चेतन/आत्मा के संवंध में विचार किया जाता है तो सवसे वड़ी अड़चन सामने आती है कि आत्मा कहाँ है? किस रूप वाली है?—आदि।

इन प्रश्नों का उत्तर जव प्रत्यक्षीकरणपूर्वक नहीं होता, तो मानव आत्मा के अस्तिव को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं होता।

संसार में अनेक वस्तुएँ ऐसी हैं जिनका प्रत्यक्षीकरण नहीं होने पर भी उनका अस्तित्व नकारा नहीं जा सकता।

चेतना का अस्तित्व एक रूपक द्वारा समझा जा सकता है—भव्य वंगले में सभी तरह की सुख-सुविधाएँ विद्यमान हैं। उष्मा से वचने के लिए पंखे, कूलर आदि लगे हैं, तो शीतलता का अपहार करने के लिए हीटर लगा है। अन्धकार के शमन हेतु ट्यूवलाईट, वल्व आदि लगे हैं। सभी तरह की सुख-सामग्री होते हुए भी सवसे वड़ी मुश्किल यह है कि वंगले में विजली का कनेक्शन मेन लाईन से जुड़ा हुआ नहीं है। इसलिये सारे उपकरण वेकार हैं। न प्रकाश होता है, न हीटर काम करता है और न पंखे चलते हैं। यदि इनका संवंध विजली से जोड़ दिया जाय तो सभी उपकरण काम करने लग जायं। अव विचार कीजिए सारी वस्तुएँ प्रत्यक्ष में लगी हैं किन्तु ऊर्जा जो अप्रत्यक्ष है उसके अस्तित्व को कोई नकार नहीं सकता। ठीक इसी प्रकार शरीर रूपी वंगले मे पाँच इन्द्रियाँ रूपी उपकरण लगे हैं। इनका व्यवस्थित रूप से संचालन किसी एक अदृश्य शक्ति से होता है। उस शक्ति के विना कान सुनते नहीं, आँखें देखती नहीं, हाथ-पैर काम नहीं करते, मुँह खा नहीं सकता, नाक सूंघ नहीं सकती। शरीर पर चाहे कितने ही प्रहार किये जायँ कोई असर नहीं होता।

एक मृत शरीर पड़ा है और पास ही एक चेतन व्यक्ति सोया है। दोनों में अन्तर किस बात का है ? यही कि चेतन व्यक्ति में आत्मा है जबकि उसका प्रत्यक्षीकरण नहीं हो रहा है, फिर भी आत्मा के अस्तित्व को नकारा नहीं जा सकता। शरीर उसी अप्रत्यक्ष शक्ति से संचालित हो रहा है।

जिस प्रकार करंट के बिना घर में लगे सभी साधन काम नहीं करते, पर विद्युत् संचार होते ही चलने लग जाते हैं। उसी प्रकार चेतन आत्मा का करंट मन रूपी तार से जुड़ा रहता है एवं सारी इन्द्रियाँ काम करती रहती हैं।

अतः चेतन आत्मा के अस्तित्व को शत-प्रतिशत स्वीकार करना ही पड़ेगा। यही आत्मा, शरीर रूपी बंगले का पावर हाउस, जेनरेटर है।

आदमी ही सर्वत्र बहुत विकास कर रहा है।
आदमी ही दुनिया में प्रवास कर रहा है।
पर आदमी को आदमी की पहचान नहीं है,
आदमी ही आदमी का विनाश कर रहा है।।

# या या क्रिया सा सा फलवती

जो जो क्रिया की जाती है वह वह फलवती होती है । कोई भी निष्फल नहीं जाती । जिस प्रकार का आचरण प्राणी करता है, तदनुरूप ही उसे फल प्राप्त होता है । आम्र वीज वोने पर आम्र फल मिलता है और कविट वोने से कवीर फल प्राप्त होता है । इसी प्रकार व्यक्ति के पुण्य कर्मों से शुभ फल और पाप कर्मों से अशुभ फल मिलते हैं ।

शुभ-अशुभ क्रियाओं का कर्ता मानव स्वयं है । शुभ क्रियाओं को करने वाले मानव की प्रवृत्ति शुभ योग की तरफ और अशुभ क्रियाओं को करने वाले मानव की प्रवृत्ति अशुभ योग की तरफ होती है ।

थोड़ी-सी क्रिया भी विना उद्देश्य के नहीं की जाती, हर क्रिया के पीछे कोई-न-कोई उद्देश्य सूक्ष्म या स्थूल रूप से विद्यमान रहता है । यथा क्षुधापहार के लिये भोजन करना, पिपासा को दूर करने के लिए जल पीना, शरीर की क्लान्ति दूर करने हेतु शयन करना, वित्तोपार्जन हेतु व्यापार करना, शरद्-ग्रीष्म आदि ऋतुओं से वचने के लिये भव्य भवन का निर्माण करना, विद्योपार्जन करने के लिये अध्ययन करना आदि आदि---। ये सव स्थूल क्रियाएँ हैं । इसके अतिरिक्त सूक्ष्म से सूक्ष्म क्रिया चाहे वह जागृत मस्तिष्क के समय हो या अजागृत मतिष्क के समय, सभी सोद्देश्य होती हैं ।

कुछ क्रियाएँ मानव इस प्रकार की कर डालता है, जिसमें उसका कोई खास उद्देश्य नहीं होता । किन्तु उन क्रियाओं का फल महान् दुःखदायक रूप में सामने आता है ।

जैन दर्शन में ही नहीं अपितु वैज्ञानिक जगत् में भी पृथ्वी, पानी, वनस्पति आदि में जीवन की कल्पना/विवेचना की गई है । उनके अन्दर भी मानव की तरह ही चेतना स्वीकार की गई है । किन्तु उन सूक्ष्म जीवों की ओर मानव का लक्ष्य कम जाता है । चलते-चलते

ही वह पेड़-पौधों से पत्र-पुष्पादि तोड़ लेता है। व्यर्थ में पानी के जीवों का घमासान कर देता है। चलते-फिरते अगणित प्राणियों के संरक्षण की ओर से अपना विवेक खो वैठता है। अपनी स्वार्थ पूर्ति के पीछे अन्य प्राणियों के हितों को कुचलने में जिसे तनिक भी संकोच नहीं होता। मनसा, वाचा, कर्मणा जिसकी प्रवृति स्वार्थ पूर्ति की ओर लगी हुई है, ऐसा मानव स्वयं अपनी ही क्रियाओं से दुःख के महान् वृक्ष का सिंचन कर डालता है। सर्प को प्यार से दूध पिलाना भी दुःखोत्पत्ति का ही कारण होता है। यथा--'पयपान भुजंगानां केवलं विपवर्धनम् ॥'

इसी प्रकार स्वार्थ लोलुप मानव की क्रियाएँ उसके लिये दुःख उत्पन्न करने वाली होती हैं।

दूसरी ओर मानव स्वानुग्रह के साथ परानुग्रह से मनसा-वाचा-कर्मणा क्रियाओं में प्रवृत्त होता है। अपने हितों की पूर्ति के लिये दूसरे के हितों का हनन नहीं करता, तो उसकी क्रियाएँ उसी रूप में फलवती होती हैं। किन्तु एक व्यक्ति दूसरों के हितार्थ अपने हितों का भी उत्सर्ग कर देता है। अपनी प्रत्येक क्रिया को परानुग्रह के लिये समर्पित कर देता है। उस व्यक्ति की क्रियाएँ भी तदनुरूप फलवती होती हैं। उसके जीवन के कण-कण को महका देती हैं। यही नहीं जीवन को शाश्वत सुख का अनुभव करा देती हैं। □

# झूठा सम्बन्ध जड़ और चैतन्य का

जड़ एवं चैतन्य का संबंध स्वण एवं मिट्टी की तरह अनादि-अनन्त काल से चला आ रहा है। इस संबंध की घनीभूतता इस सीमा तक पहुँच चुकी है कि स्वयं आत्मा भी जड़ एवं चैतन्य के भेद संबंध से अनभिज्ञ बनती चली जा रही है।

विविध विद्याओं में परिलक्षित होने वाली सृष्टि का निर्माण भी जड़-चैतन्य के सम्पर्क से ही हुआ है। एतदर्थ प्रभु महावीर ने दो तत्वों की प्ररूपणा की है। "दुविहे तते पण्णते जीवा चेव अजीवा चेव" दो प्रकार के तत्व होते हैं। मुक्ति पथ पर प्रयाण करने के लिए इन दो तत्वों के ज्ञान की अनिवार्य आवश्यकता बताई गई है।

दूध और पानी की एकाकारता की तरह जड़ (कर्म) और चैतन्य का इतना अधिक अभिन्न संबंध है कि दोनों एकाकार ही ज्ञात होते हैं। अधिकांश मानवों की दृष्टि में उसका भेद ही परिलक्षित नहीं हो पा रहा है। यह तो दूर रहा, आज का मानव तो स्पष्ट दिखाई पड़नेवाले भिन्न-भिन्न तत्वों के साथ भी अभिन्न संबंध स्थापित कर लेता है। यथा—यह भव्य बंगला मेरा है। यह पुत्र, यह परिवार मेरा है, यह धन-दौलत मेरी है, आदि।

यथार्थ में बंगला, पुत्र, धन तो क्या जिस देह पिण्ड में वह रह रहा है, वह भी उसका नहीं है। अन्ततोगत्वा शरीर भी पंचत्व को प्राप्त हो जाता है। तथापि मानव के मस्तिष्क में इन जड़ तत्वों के साथ आत्मा की अभिन्नता का गलत संबंध जुड़ चुका है। परिणाम-स्वरूप भौतिक तत्वों में अकल्पित उन्नति करने पर भी वह अधिका-धिक शारीरिक एवं मानसिक तनावग्रस्त बना है।

जड़ और चेतन के यथार्थ भेद विज्ञान के बिना लक्ष्यानुरूप मार्ग में गति नहीं हो सकती। बिना लक्ष्यानुरूप गति के सिद्धि प्राप्त नहीं हो सकती। अतः सर्वप्रथम अनिवार्य आवश्यकता यह है कि आत्मिक

ऊर्जा को भौतिक प्रवाह से हटाकर जड़ चैतन्य के भेद विज्ञान को पाने की दिशा में प्रवाहित किया जाय।

अतीत के अगणित महापुरुषों की दुःख-मुक्ति का मूल मंत्र भी यहीं से प्रारम्भ हुआ था। अतः दुःख मुक्ति एवं सुख-अवाप्ति के इच्छुक मानव को इस गलत संबंध को समझने की आवश्यकता है। □

आज भारत में धर्मों की भी कोई कमी नहीं है।
पुराण तथा कुरान की भी कोई कमी नहीं है।
दीपक तले अंधेरा लेकर चलने वाले,
धर्म उपदेष्टाओं की भी कोई कमी नहीं है।

# स्थिर आत्मा : : अस्थिर कर्म

वहुत से व्यक्ति यह कहते हुए मिलत हैं कि हमारे तो, अशुभ कर्मों का उदय है जिसके कारण हम धर्म ध्यान नहीं कर पाते हैं, नहीं सुख की प्राप्ति होती है। दुःख की दीर्घ परम्परा में भटक रहे हैं और भटकते ही चले जायेंगे।

इस प्रकार के विचार रखने वाले भद्रिक प्राणी अपने आपसे हताश, निराश हो जाते हैं। परिणामस्वरूप उनका जीवन निष्क्रिय वन जाता है और वे कभी भी कर्मों का अन्त नहीं कर पाते।

यथार्थ में तो कर्म अस्थिर हैं। योग्यता एवं सुपुरुषार्थ के होने पर कर्म आत्मा से निश्चितरूपेण विलग होते हैं। जैसा कि भगवती सूत्र के प्रथम शतक में कहा है—'अथिरे पलोट्टई तो थिरे पलोट्टई।' हे गौतम ! अस्थिर कर्म परिवर्तनशील हैं। वह वदलता रहता है। आत्मा स्थिर है, उसमें कभी भी परिवर्तन नहीं होता है।

भयंकर से भयंकर कर्मों का वंधन भी निश्चित सीमा के वाद आत्मा से अलग हो जाता है। जो वस्तु, पदार्थ नश्वर हैं, वे निश्चित रूप से एक-न-एक दिन नष्ट होंगे ही। कर्म भी नाशवान तत्व है, वह भी एक दिन निश्चित रूप से नष्ट होता है। आवश्यकता है अपने सात्विक पौरुष को जागृत करने की। आगमों एवं साहित्य में एक नहीं अनेक उदाहरण भरे पड़े हैं, जो इस वात के प्रमाण हैं कि भयंकर से भयंकर कर्मों का वंधन करने वाला पापात्मा भी सुपुरुषार्थ के वल से पवित्रात्मा वन गया। अपने सारे कर्मों को नाश कर मोक्ष में चला गया। कहाँ वह अर्जुनमाली प्रतिदिन छः पुरुष और एक स्त्री की हत्या करनेवाला। एक दिन, दो दिन ही नहीं, जिसने लगभग छः माह तक निरन्तर यह पाप किया। जिसके हाथ खून से सने रहते थे। जिसे निरपराध मनुष्यों की हत्या करने में भी कोई भय नहीं था।

# प्रवचन का मापदण्ड

बहुत से व्यक्तियों/श्रोताओं से यह सुनने को मिलता है कि अमुक वक्ता ने किंवा प्रवचनकार ने कितना सुन्दर वक्तव्य, कितनी सुन्दर कहानी सुनाई या गायन प्रस्तुत किया, प्रवचन दिया। उनके वक्तव्य में कितना करुण रस था कि लोगों की आँखों से आँसू झरने लगे। अमुक वक्ता का प्रवचन तो बिल्कुल नीरस था, बोर कर दिया। उनकी सब बातें थोथी थीं आदि····। प्राय: लोगों का यही मापदण्ड होता है, वक्ता के वक्तव्य की सरसता-नीरसता को परखने का।

यथार्थता के परिप्रेक्ष्य में सोचा जाय तो यह प्रवचन का मापदण्ड नहीं, मनोरंजन का मापदण्ड है। जिस प्रवचन से मनोरंजन नहीं हो वह नीरस, सारहीन है और जिससे मनोरंजन हो वह सरस, सारपूर्ण है। जबकि आधुनिक युग में मनोरंजन के अनेक साधन आविष्कृत हो चुके हैं। नाट्यशाला में नाटक देखा जाय अथवा सिनेमा घरों में चलचित्र। उन चित्रों से, नाटकों से व्यक्ति का बहुत अच्छा मनोरंजन हो जाता है। किन्तु वह क्षणिक और मानव के जीवन को रसातल में लेजानेवाला होता है। यदि ऐसे ही मनोरंजन की हम प्रवचन में अपेक्षा रखते हैं तो कभी भी जीवन की मूलत: खोज नहीं कर सकेंगे।

प्रवचन वह होता है जो व्यक्ति का मनोरंजन नहीं करता अपितु उसे मनोरंजन से उपेक्षित कर दे। जिसके सुनने से श्रोताओं को बाह्य पदार्थ सारहीन एवं निरर्थक लगने लग जायँ। यहाँ तक कि वह अपने शरीर को भी भार रूप में महसूस करने लगे। श्रोताओं के समक्ष आत्मा और कर्म, भौतिकता और आध्यात्मिकता का यथार्थ स्वरूप उजागर हो सके। वह जीवन के वास्तविक स्वरूप को समझ सके। विषमता की खाई को पार कर समता के स्वरूप में

रमण करने का सही बोध प्राप्त कर सके। प्रवचन का सही रूप यही है।

कहानी, गायन, कविता, घटना, उदाहरण आदि तो सामान्य व्यक्ति की बुद्धि में तत्व का कुछ आंशिक बोध कराने के लिये होते हैं। ये सब तो कलेवर हैं। आत्मा तो उसमें रहने वाला उपदेश है। श्रोता कलेवर को न पकड़ उसमें रहनेवाले तत्व को जानने की कोशिश करें।

अत: प्रवचन का मापदण्ड मनोरंजन द्वारा नहीं, मन निरोध में होना चाहिये। □

खाना खाना सरल है, पचाना है मुश्किल।
धन चाहना सरल है, कमाना है मुश्किल।
दीक्षित होना सरल है, निभाना है मुश्किल,
ज्ञान पाना सरल है, टिकाना है मुश्किल॥

# फूलों में भी कीड़े

सूर्य के उदय होने के साथ ही कमल भी खिल उठता है। उसकी पंखुड़ियाँ विकसित हो जाती हैं। जैसे हँसती हुई प्रतीत होती हों, दूर-दूर तक वह अपनी सुगन्ध को प्रसारित करता है। अपने में पराग और मकरन्द रखता है। भ्रमर जिससे अपनी उदर पूर्ति कर लेता है, तो मधुमक्खी उससे मकरन्द को ग्रहण कर शहद बना देती है।

सभी दृष्टि से उत्तम, उस फूल में कीड़े भी होते हैं। ठीक इसी प्रकार मानव में कई गुण होते हैं तो अवगुण भी होते हैं, किन्तु व्यक्ति को भँवरे की तरह बनना चाहिये। जिस प्रकार वह फूल से पराग ग्रहण कर लेता है कीड़ों को जहाँ का तहाँ छोड़ देता है। उसी प्रकार प्रत्येक मानव अन्य के गुणों को ग्रहण करने का प्रयास करे। अवगुणों की उपेक्षा कर दे तो वह स्वयं गुणी बन जाता है। यदि इसके विपरीत आचरण करता है, तो वह अवगुणी बन जाता है। □

अमृत को पाना है तो जहर को समझना होगा।
शांति को पाना है तो अशांति को समझना होगा।
दुनिया की दुरंगी चाल को देखते हुए भव्यो,
समता को पाना है तो ममता को समझना होगा।।

# त्रय स्तम्भ

अहमदाबाद शहर में बड़े-बड़े आठ-आठ, नौ-नौ मंजिल बंगल दो-तीन स्तम्भों पर ही खड़े हैं, देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ। किन्तु उन तीन स्तम्भों में वह शक्ति है कि वे उस विशाल भवन को सुस्थिर रखने में समर्थ हैं अर्थात् उन खम्भों की नींव गहरी और सशक्त है।

बाह्य इमारतों को सुस्थिर रखने के लिए जिस प्रकार नींव तथा स्तम्भों की मजबूती आवश्यक है, ठीक इसी तरह ज्ञान और क्रिया रूप द्वय स्तम्भों की किंवा रत्नत्रय सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन, सम्यक् चारित्र रूप त्रय स्तम्भों की मजबूती संयम-महल (मुक्ति रूप) को सुस्थिर करने के लिए पर्याप्त है।

जब तक रत्नत्रय की आराधना समीचीन रूप से दृढ़ता के साथ नहीं होती, तब तक संयम-महल सुस्थिर नहीं रह सकता। जो भव्य आत्मा इन त्रय स्तम्भों को सम्यक् आराधना के साथ मजबूत बना लेती है, उस आत्मा का संयम रूप महल संवर्तक तूफान से भी विचलित नहीं हो पाता। महायोगी स्थूलीभद्र ने सम्यक् ज्ञानादि त्रय स्तम्भों को इतना सशक्त बना लिया था कि अत्यधिक कामुकता से परिपूर्ण कोशा के कटाक्षों से युक्त वेश्यालय में भी उनका संयम-महल खण्डित नहीं हो सका। इसी का विपरीत पक्ष यह ज्ञापित करता है कि उसी गणिका के स्थान पर एक ईर्ष्यालु अन्य मुनि पहुँचे, जिनके त्रय स्तम्भ मजबूत नहीं थे। परिणाम यह निकला कि उनका संयम-महल ढह गया।

दुःखों का अन्त और सुखों की प्राप्ति इन त्रय स्तम्भों को मजबूत करके संयम-महल को सुरक्षित रखने पर ही हो सकती है।

साधुता का सच्चा रूप भी इन त्रय स्तम्भों की मजबूती से निख-

रता है। वाचक उमास्वाति ने दुःख के लिये इन त्रय स्तम्भों की मजबूती का प्रतिपादन किया है। यथा—'सम्यक् दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः।' सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन और सम्यक् चारित्र मोक्ष का मार्ग है। □

राष्ट्र की सुरक्षा शस्त्र निर्माण से नहीं होती।
शरीर की सुरक्षा अधिक खान-पान से नहीं होती।
वासना में सब सुख समझने वाले लोगो,
जीवन की सुरक्षा भोग विलास से नहीं होती।

# दृष्टि एक—दृश्य अनेक

एक ही दृष्टि के द्वारा अनेक दृश्य देखे जाते हैं। यह संसार अनन्तानन्त जीवात्माओं से भरा हुआ है। किन्तु इन विविध रूपों की विचित्रताओं को देखनेवाली दृष्टि एक ही है। आँखों के द्वारा ही वीभत्स, घृणास्पद रूप देखे जाते हैं और उसी से मनोज्ञ, रागात्मक रूप भी देखे जाते हैं। द्रष्टा एक है, दृश्य अनेक हैं। चित्रपट्ट एक है, चित्र अनेक हैं।

राग-द्वेष उत्पादक दृश्यों किंवा चित्रों पर द्रष्टा की साम्यभाव रूप एकता स्थापित होती है, तभी जीवन का शाश्वत सत्य उजागर होता है। आज का अधिकांश मानव जिस दृष्टि के द्वारा दृश्यों को देख रहा है उन पर उनकी रागात्मक और द्वेषात्मक भावना जागृत हो रही है। क्षणिक और अशाश्वत् तत्वों से वह अपना संबंध स्थापित कर रहा है। परिणामस्वरूप वह अपनी आत्मा को पापों से अहर्निश भारी कर रहा है। एक दृष्टि से दिखलाई देने वाले दृश्यों पर जब हमारी साम्य भावना रूप एकात्मकता स्थापित होगी, तब हम पाप से विरत होते हुए अपने आपको समझने में सक्षम हो सकेंगे।

शास्त्र चूड़ामणि आचारांग सूत्र में महावीर प्रभु ने एक छोटा सा किन्तु महत्वपूर्ण सूत्र बतलाया है—

'समत्तदंसी न करेइ पावं।'

समत्वदर्शी कभी पाप नहीं करता। समत्वदर्शी से यही तात्पर्य है कि हे आत्मन्! तुम जगत के समस्त चराचर तत्वों पर साम्य-भाव, आत्मीय भाव बना। जब तुम्हारी आत्मा में, मन-वचन और शरीर के कोने-कोने में साम्य व्याप्त हो जाता है, घनघातिक शिखर ढह जाते हैं, तब जीवन का अपूर्व रूप प्रकाशित हो जाता है। उस अवस्था में जीव कभी भी पाप नहीं करता। दृष्टि के द्वारा दृश्यमान तत्वों पर साम्य भाव जागृत करने पर ही यह अवस्था आ सकती है। □

# पैर फिसल न जाय

यदि व्यक्ति का पर उन्नति के पथ से फिसल गया तो फिर संभलना मुश्किल हो जाता है एवं उसका पतन निरन्तर होता ही चला जाता है।

हाथी यदि कीचड़ में फँस गया तो वह निकल नहीं पाता। जितनी अधिक कोशिश वह निकलने की करता है उतना ही अधिक वह फँसता चला जाता है। अन्ततः उसे वहीं पर प्राणों का विसर्जन करना पड़ता है। रेल पटरी से उतर गई तो उसे पुनः पटरी पर लाना दुःसाध्य हो जाता है।

पतन के गर्त में जो एक बार गिर जाता है, पुनः उससे उबरना, निकलना बहुत मुश्किल हो जाता है।

आधुनिक युग का युवक प्रायः विलासिता के कीच में धँसता ही जा रहा है। उसकी युवा ऊर्जा निरर्थक नष्ट हो रही है। जिस ऊर्जा से वह उन्नति के शिखर पर चढ़ सकता है, उसी ऊर्जा से वह पतन के गर्त में समा रहा है।

अतः व्यक्ति को यह ध्यान रखना चाहिये कि कहीं उसका पैर फिसल न जाय। यदि फिसल गया तो पुनः संभलना मुश्किल हो जायगा। □

# रोहिड़े का फूल

वनस्पति जगत में विभिन्न प्रकार के फूल पाये जाते हैं, उनसे विभिन्न तरह की गंध आती रहती है। किन्तु उन्हीं में एक रोहिड़े का फूल होता है, जो दीखने में बड़ा आकर्षक, मोहक और सुन्दर होता है, किन्तु उसमें सुगन्ध नहीं होती।

यही स्थिति हो रही है इस शरीर की। जिस शरीर को देखकर मानव इतरा रहा है, गुमराह बन रहा है। बाह्य चर्म जो सुन्दर मोहक और आकर्षक लगता है, उस चर्म के पीछे क्या भरा पड़ा है। बीभत्स रूप मल, पीव, रक्त का भण्डार, दुर्गन्ध से परिपूर्ण भयानक दृश्य।

बाह्य रूप से सुन्दर लगने वाला शरीर अन्दर में कुरूपता से परिपूर्ण है। बाह्य चमड़ी पर आसक्त होकर गिद्ध की तरह मंड-राने वाले व्यक्ति मदान्ध हो रहे हैं, हिताहित के विवेक से विकल बन रहे हैं। जिस फूल में सुगन्ध नहीं, वह फूल किस काम का। उसकी बाह्य सुन्दरता या शालीनता निरर्थक है। ऐसे फूल को कोई भी सुज्ञ व्यक्ति ग्रहण नहीं करता। सुन्दर चर्म शरीर के पीछे स्थित भयानक रूप कितना दुर्गन्ध से परिपूर्ण है, उस ओर कौन सुज्ञ व्यक्ति आकर्षित होगा।

दुर्गन्ध से हट कर सुगन्ध को पाने की चेष्टा करें। दृष्टि को बाहर से हटाकर अन्तर की ओर लगाने का प्रयत्न किया जाय। शरीर से हटकर आत्मा को खोजने का पुरुषार्थ किया जाय। अनन्त अनन्त सुगन्ध से पूर्ण पवित्रतम रूप में विद्यमान है हमारी आत्मा। इसकी आत्मिक सुगन्ध को कैसे प्राप्त किया जाय?

हमारा पुरुषार्थ उस रोहिड़े के फूल के समान शरीर पर न होकर सुगन्ध युक्त गुलाब के पुष्प की तरह आत्मा पर होना चाहिये। □

# लक्ष्यानुरूप गति हो

दुःख मुक्ति एवं सुख की अवाप्ति कौन नहीं चाहता ? विश्व के छोटे-से-छोटे प्राणी से लेकर बड़े-से-बड़े प्राणी सुखी बनना चाहते हैं। किन्तु इच्छानुरूप गति/क्रिया न होगी तो वह इच्छा, इच्छा ही रह जाएगी। सुख-प्राप्ति के लिये की जानेवाली गति/क्रिया भी लक्ष्यानुरूप पथ पर होनी चाहिये।

व्यक्ति जाना तो पूर्व की ओर चाहता है, दौड़ लगाता है पश्चिम की ओर। तो कभी भी लक्ष्य प्राप्त नहीं कर सकता, बल्कि लक्ष्य से अहर्निश दूर होता चला जाता है। लक्ष्य को पाने के लिये मानव को जिस ओर जाना है, उसी ओर चलना होगा। इसी प्रकार सुख पाने के इच्छुक मानव को तदनुरूप पथ पर चलना होगा। आज का मानव सुख का अन्वेषण बाहरी तत्वों में कर रहा है। हजारों-हजार वर्ष बीत गए तथापि मानव सुख की प्राप्ति नहीं कर सका, सुख की उपलब्धि तो क्या और अधिक दुःखी बनता गया।

आखिर क्यों ? वह इसलिये कि जाना तो था पूर्व की ओर किन्तु दौड़ लगाई पश्चिम की ओर। अर्थात् सुख पाने के इच्छुक मानव ने अपना सारा परिश्रम भौतिक तत्वों पर ही लगा दिया। बाह्य आकर्षण में रमण करता रहा। अन्तर में झांकने की कोशिश नहीं की। इसीलिये वह सुख-प्राप्ति की बजाय दुःख ही पाता रहा।

जब तक मानव अन्तर पथ पर गति करना नहीं सीखेगा, तब तक वह परम-सुख का आभास भी नहीं कर सकता। सुख का अक्षय स्रोत तो मानव के अन्तर में विद्यमान है। अन्तर्मुखी बनने पर ही उसका दिग्दर्शन हो सकता है।

बड़े-बड़े साधनाशील योगियों के मुख-मण्डल को देखने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है। उनके सौम्य मुख से मानो शांति टपकती

रहती है और दर्शन करने से द्रष्टा को भी शांति प्राप्त होती है। यह सब उनके अन्तर्मुखी जीवन का ही प्रभाव है।

सुख का इच्छुक यत्किंचित् रूप से भी अन्तरावलोकन करने लग जाय, अन्तर में उतरे तो उसकी लक्ष्यानुरूप गति निर्धारित हो जाएगी।

लक्ष्यानुरूप गति पर वह धीरे-धीरे भी चले, तथापि एक-न-एक दिन लक्ष्य को प्राप्त कर ही लेगा। दिल्ली जाने के लिये अनेक गाड़ियाँ चल रही हैं। एक गाड़ी १६० कि० मी० प्रति घण्टे की रफ्तार से चल रही है। एक गाड़ी १०० कि० मी० प्रति घण्टे की रफ्तार से चल रही है। एक गाड़ी ६० कि० मी० प्रति घण्टे की रफ्तार से चल रही है, किन्तु उन सबकी दिशा दिल्ली की ओर ही है। धीरे चले या तेज, लक्ष्य एक ही होने से दिल्ली पहुँच जाएगी। अन्तर इतना ही रहता है कि तीव्र चलने वाली गाड़ी शीघ्रता से, मंद चलने वाली गाड़ी कुछ देरी से और उससे भी मंद चलने वाली गाड़ी और भी अधिक विलम्ब से पहुँचेगी, पर पहुँचेगी दिल्ली ही।

इसी प्रकार जो साधक अन्तर पथ पर तीव्र गति से चल रहा है अर्थात् साधना तीव्र गति से कर रहा है, वह शीघ्रता से लक्ष्य का वरण कर लेगा। जो अन्तर पथ की साधना धीरे-धीरे कर रहा है वह धीरे-धीरे लक्ष्य की प्राप्ति करेगा। जो बाह्य वस्तुओं से निरपेक्ष है, वह एक-न-एक दिन लक्ष्य पा लेगा।

तात्पर्य यह है कि प्राणी की लक्ष्यानुरूप गति बन गई तो उस पर वे धीरे चलें या जल्दी एक-न-एक दिन लक्ष्य का वरण कर ही लेंगे। □

# तीव्रगामी मन

संसार में जितन तीव्र गतिशील यंत्र हैं, उन सभी यंत्रों से भी तीव्र गतिशील यंत्र मानव के पास विद्यमान है। वह यंत्र है–मन। मन की गति को वैज्ञानिकों ने प्रकाश एवं विद्युत गति से भी अधिक तीव्र वतलाया है। जहाँ प्रकाश की गति १ लाख ८६ हजार मील प्रति सेकेण्ड है, विद्युत की गति २ लाख ८८ हजार मील प्रति सेकेण्ड है, वहाँ मन की २२ लाख ६५ हजार १२० मील प्रति सेकेण्ड मानी गई है। विना किसी भौतिक यंत्र के तीव्र गति करने वाला यह यंत्र है मानव के पास में।

इस तीव्रगामी यंत्र का सर्जनात्मक दिशा में प्रयोग किया जाय तो यह नये-नये आविष्कार कर सकता है, जो मानवमात्र के लिये परमोपयोगी सिद्ध होंगे। यदि इसी यंत्र का विध्वंसात्मक दिशा में प्रयोग किया जाय तो यह महाविनाशकारी लीला उपस्थित कर देगा।

एक गाड़ी जो कि प्रति घण्टे ६० कि० मी० की रफ्तार से दौड़ती है। उसका यदि व्यवस्थित दिशा में प्रयोग न हो अर्थात् बिना ब्रेक गाड़ी चलाई जाय तो वही मानव के लिये विनाशकारी लीला उपस्थित कर देती है।

मन तो उस गाड़ी से भी अधिक तीव्रगामी है, अतः इस पर नियंत्रण आवश्यक ही नहीं अत्यावश्यक है।

आज का मानव कितने हिंसात्मक वातावरण में जी रहा है। न मालूम कब, किस समय मृत्यु हो जाय, इसका कोई अता-पता नहीं है। इसका एकमात्र कारण मन का असंतुलित प्रयोग है।

जब तक हम अपनी मन की गाड़ी का नियमित एवं सही दिशा में प्रयोग करना नहीं सीखेंगे, तब तक जीवन का वास्तविक स्वरूप अभिव्यक्त नहीं हो सकता। बड़े-बड़े साधनाशील योगी ही नहीं,

परमयोगी भी इस मन के असंतुलित प्रयोग से पथ भ्रष्ट हो गए। वैदिक संस्कृति में वर्णन आता है कि साधना में तन्मय योगी के पास स्वर्ग की अप्सरा आती है, थोड़ा-सा हाव, भाव, कटाक्ष विक्षेप करती है और साधक अपनी साधना से पतित हो जाता है। जैन संस्कृति में रथनेमि का वर्णन आता है जो पर्वतीय गहनतम तमिस्रायुक्त गुफा में मन को संतुलित करने के लिये साधना कर रहे थे, उनके लोचन युगल के समक्ष साध्वी राजीमती की अनावृत देह आती है और उसका मन चंचल हो उठता है। मन की गति असंतुलित हो जाती है। ऐसे एक नहीं अनेक उदाहरण मिल जाएँगे।

यदि हमें जीवन में वास्तविक आनन्द प्राप्त करना है, तो मन की गति को समझना होगा, उसके असंतुलित प्रयोग को रोकना होगा अर्थात् मन पर ब्रेक लगाना होगा। □

धागों को जोड़ा तो परिधान बन गया।
ईंटों को जमाया तो मकान बन गया;
मानवता के बिखरे कणों को जिसने भी,
अन्तर में संजोया, सही इन्सान बन गया।

# ध्यान

किसी भी विषय पर चिन्तन करना, ध्यान की स्थूल परिभाषा है। प्रत्येक मानव का किसी न किसी प्रकार का चिन्तन, विचार प्रत्येक समय चलता रहता है। कोई विचार प्रसन्नता को उत्पन्न करने वाला होता है तो कोई विचार चिन्ता उत्पन्न करने वाला होता है एवं मन को तनावग्रस्त बना देता है। यह सब ध्यान की ही प्रक्रिया है। जैन दर्शन में ध्यान को मुख्यत: चार भागों में विभक्त किया है। आर्त ध्यान, रौद्र ध्यान, धर्म ध्यान एवं शुक्ल ध्यान। प्रथम दो ध्यान मानव के मन में चिन्ता, उद्वेग, राग, द्वेष और हिंसात्मक भावों को उत्पन्न करते हैं। अन्त के दो ध्यान व्यक्ति के विचारों को यथार्थ के परिपार्श्व में उपस्थित करते हुए, जीवन की हर उलझन को सुलझाते हैं। अन्ततः आत्मिक स्वरूप को सर्वथा अनावृत्त कर देते हैं।

रौद्रकारी और तनावयुक्त विचारों से मस्तिष्क के ज्ञान तंतुओं पर बहुत गहरा आघात लगता है। जिस प्रकार हथौड़े की चोट वस्तु को क्षत-विक्षत कर देती है, वैसे ही रौद्रकारी विचार मानव के ज्ञान तंतुओं पर हथौड़े की तरह आघात करते हैं। उसका परिणाम भी सामने आ जाता है, ऐसे व्यक्ति अनेक रोगों से आक्रान्त हो जाते हैं। जीवन की सौम्यता और सरसता समाप्त हो जाती है। चिन्तन की साहजिक क्षमता भी नहीं रह पाती। जीवन सदा दुःखी और संतप्त ही बना रहता है। उन मानवों के पास में भौतिक संपत्ति का अंबार भी लग जाय तथापि सच्ची शांति का एक बिन्दु भी उन्हें प्राप्त नहीं हो पाता।

किन्तु जो साधक अपने विचारों को समझते हैं। जीवन जीने की कला जिन्हें आती है, वह अपने विचारों को, रौद्रकारी तनावग्रस्त, कापायिक अवस्थाओं से हटाकर आंतरिक शक्ति को

उद्भासित करने के लिये अन्तर्मुखी बनाते हैं। ऐसे साधकों का मन सदा विकासी पुष्प की भाँति सदैव खिलता रहता है। उनके मस्तिष्क के वे सुपुप्त ज्ञान तंतु जागृत हो जाते हैं, जिनमें रहस्यमयी अज्ञात शक्तियाँ भरी हुई हैं।

आधुनिक वैज्ञानिकों का भी कहना है कि मानव के मस्तिष्क का दो तिहाई हिस्सा बिल्कुल निष्क्रिय पड़ा प्रतीत होता है, कुछ भी काम नहीं करता। केवल मस्तिष्क का एक हिस्सा कार्यकारी है। उन दो हिस्सों में क्या कुछ शक्तियाँ भरी हुई हैं, इसकी खोज अभी भी जारी है। द्वितीय महायुद्ध के समय में बतलाया जाता है कि तीव्र वेग से चल रही ट्रेन से एक व्यक्ति गिर पड़ा, उसके मस्तिष्क में चोट आई, अस्पताल पहुँचाय गया, जब उसे होश आया तो उसे दिन में भी तारे, ग्रह, नक्षत्र दिखलाई देने लगे। डाक्टरों को आश्चर्य हुआ। उसके द्वारा बतलाई गई बातों की खोज, जब वैज्ञानिक प्रयोगशाला द्वारा की गई तो सच निकली। तब डाक्टरों ने उसके मस्तिष्क को सूक्ष्म दर्शक यंत्रों से देखा तो उन्हें मालूम हुआ कि मस्तिष्क के निष्क्रिय भाग में से कुछ हिस्सा काम करने लग गया है। इसके परिणामस्वरूप यह देख रहा है।

इसी प्रकार एक आहत सैनिक को भी जब होश आया तो वह बिना किसी रेडियो की सहायता के ही गीत सुनने लगा, जबकि पूरे हास्पिटल में ही नहीं आस-पास के घरों में भी कहीं रेडियो नहीं चल रहा था। जब उसे पूछा गया कि कौन-सा गीत सुन रहे हो, तो उसने जो सुना वह बतलाया। उसी समय रेडियो चलाया गया तो उसमें भी वही गीत आ रहा था। इसकी खोज की गई तो मालूम हुआ कि लगभग २० मील दूर रेडियो स्टेशन से इस गीत के शब्दों को वायुमण्डल में फेंका गया है। इस सैनिक की श्रवण शक्ति इतनी तीव्र हो गई है कि वह इतनी दूरी के शब्दों को भी सुनने में समर्थ हो चुका है, किन्तु आपत्ति यह हुई कि निष्क्रिय केन्द्र का व्यवस्थित संचालन न होने से उसका जीना ही दूभर होने लगा। तब डाक्टरों ने आपरेशन करके पुनः उस केन्द्र को निष्क्रिय बना दिया।

इससे यह सहज ज्ञात होता है कि मानव के मस्तिष्क में कितनी आश्चर्यजनक शक्तियाँ भरी हुई पड़ी हैं। उनको व्यवस्थित रूप से अनावृत किया जाय तो मानव विश्व के अगणित अज्ञात रहस्यों को भी सहज ही जान सकता है।

उन शक्तियों का अनावरण वैज्ञानिक प्रयोगों से संभव नहीं है। उनका व्यवस्थित अनावरण तो साधक की अन्तर्मुखी ध्यान साधना ही कर सकती है। योगी इसी ध्यान-साधना के द्वारा विश्व के अज्ञात रहस्यों को ही नहीं आत्मिक स्वरूप को भी जानने में समर्थ हुए हैं। प्रायः ऐतिहासिक घटनाओं को सुनकर आश्चर्य नहीं अपितु सामान्य प्राणियों को भ्रान्ति भी हो जाती है कि इतना विशाल ज्ञान किसी को हो सकता है, जिससे सारे विश्व को यहाँ बैठे हुए ही हस्तामलकवत् स्पष्ट रूप से देख सके? इतनी शक्ति भी किसी में आ सकती है? वह विशालकाय पर्वत को भी अपने अंगूठे से कम्पित कर दे? वस्तुतः ये सब बातें सत्य हैं। आज विश्व के प्रत्येक प्राणी में ये शक्तियाँ भरी पड़ी हैं, किन्तु वह उनका सही दिशा में प्रयोग नहीं कर रहा है। उसकी ध्यान-साधना अन्तर्मुखी न बनकर बहिर्मुखी बन रही है। अगर अपनी ध्यान-साधना को अन्तर्मुखी बनाया जाय तो उसके सुषुप्त ज्ञान केन्द्र जागृत हो सकते हैं। उन आश्चर्यजनक शक्तियों का वह स्वयं स्वामी बन सकता है। □

# प्रभाव किसका पड़ता है ?

लाउड स्पीकर से आवाज का प्रसारण तभी हो सकता है, जब कि उसका पावरयुक्त बैटरी से संबंध हो। बिना बैटरी के माइक में कितना ही बोला जाय, लाउड स्पीकर से उन शब्दों का प्रसारण नहीं हो सकता है। बिना ऊर्जा के बल्ब कभी भी प्रकाशित नहीं हो सकता।

ठीक इसी प्रकार बिना आचरण के प्रवचन का जन-मानस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता। आचरण का पावर नहीं होगा तो वचन-शक्ति जनता के अन्तःकरण को छू नहीं सकती। राज-नैतिक स्तर के बड़े-बड़े राजनेता लक्षाधिक व्यक्तियों के बीच में नैतिकता से रहने हेतु लच्छेदार भाषा में भाषण दे देते हैं, जनता में तालियों की गड़-गड़ाहट हो जाती है, किन्तु इससे अतिरिक्त परि-णाम क्या निकलता है ? कुछ नहीं।

आज राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय स्थिति क्यों नहीं सुधर रही है ? जबकि भाषण देनेवाले अच्छे-से-अच्छे राजनेता विद्यमान हैं। मुख्यतया एक ही कारण है कि कई राजनैतिक वक्ताओं का स्वयं का जीवन नीति और मर्यादाओं से युक्त नहीं है। जिस स्टेज पर वे हैं, उस स्टेज की मर्यादाओं का पालन नहीं कर पा रहे हैं। इसीलिये जनता पर उनके भाषणों का कोई प्रभाव नहीं पड़ रहा है।

साधु जीवन पवित्र ही नहीं अपितु पवित्रतम जीवन है। उस जीवन की भी कुछ मर्यादाएँ हैं। मुख्यतः अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्म-चर्य और अपरिग्रह—इन पाँच सिद्धान्तों का श्रमण-निर्ग्रन्थों को सर्वथा प्रकार से पालन करना अनिवार्य होता है। इन व्रतों का पूर्ण रूप से पालन करते हुए वह प्रवचन आदि के द्वारा जिन-धर्म की प्रभावना कर सकता है। जनता को कुपथ से सुपथ पर लाने के प्रयास कर सकता है। किन्तु अगर साधु मर्यादा को तोड़कर प्रचार-प्रसार

के नाम पर अथवा जनता के जीवन को सुधारने के लिए कुछ कार्य करता है तो उसका वास्तविक प्रभाव जन-मानस पर नहीं हो पाता है जिस प्रकार की बिना बैटरी के माइक में कितना ही बोला जाय लाउड स्पीकर से शब्दों का प्रसारण नहीं हो सकता। बिना मर्यादा से प्रवाहित होने वाला नद जनता के रक्षण की बजाय विनाशकारी दृश्य ही उपस्थित कर देता है।

जनता पर उसी व्यक्ति का स्थायी और सच्चा प्रभाव पड़ता है, जिसके अन्दर आचरण की जीवनी शक्ति विद्यमान हो। २५०० से अधिक वर्ष बीत जाने पर भी भगवान महावीर को क्यों याद किया जाता है? वह इसीलिये कि उन्होंने कहने के पहले करके दिखाया था। पहले अपने जीवन को परिष्कृत किया था। □

जो काट दे एक ही झटके से उसे तीक्ष्ण तलवार कहते हैं।
जो बना ले पर को अपना उसे सही व्यवहार कहते हैं।
कमल की तरह निर्लेप रहकर दुनिया में लोगो,
जो काट दे कर्म बन्धन उसे शुभ विचार कहते हैं।।

# गलती क्यों होती है ?

कुछ कार्य मानव के द्वारा ऐसे हो जाते हैं, जिनको करत वक्त तो वह कर डालता है किन्तु करने के वाद उसका मन कचोटता रहता है कि उसने यह गलत काम किया है। यह कार्य उसके योग्य नहीं था। जव व्यक्ति सवसे पहले चोरी करने के लिये प्रस्तुत होता है तो चोरी करने के विचार के समय ही अन्दर से आवाज उठती है कि यह उचित नहीं है। किन्तु मानव उस विचार को दवा कर चोरी करने के लिये जाने लगता है। प्रत्येक पद-चालन के साथ ही अन्दर की पुकार उसे आगे जाने से रोकती है। ऐसे एक कार्य नहीं अनेक कार्य कर लिये जाते हैं, जिनको करने के वाद भी मन में कचोट होती रहती है।

हर मानव के पास अपनी निर्णायक शक्ति होती है। जो सदा उसे सत्पथ की ओर गमन करने के लिये प्रेरित करती है। यदि मानव अपनी निर्णायक शक्ति को समझे और तदनुसार जीवन व्यवहार को सही दिशा की ओर प्रेरित करे तो उसके द्वारा कभी गलत कार्य नहीं हो सकता। उसका मन सदा प्रसन्नता से खिलखिलाता रहेगा।

वस्त्र के मलीन हो जाने पर क्षार पदार्थों से उसका प्रक्षालन कर लिया जाता है। पुनः मलीन होने पर उसका प्रक्षालन कर लिया जाता है। शरीर पर भी रज कण आदि द्वारा मलीनता आने पर उनका प्रक्षालन किया जाता है। पुनः रज कण लगने पर पुनः प्रक्षालन किया जाता है। बुभुक्षा लगने पर रोटी खा ली जाती है। फिर कुछ समय वाद भूख लगने पर पुनः रोटी ग्रहण कर ली जाती है। मानव ऐसे अनेक कार्य करता है, जिसकी आवृत्ति पुनः-पुनः की जाती है। इसी प्रकार सामायिक, प्रतिक्रमण, स्वाध्याय, चिन्तन, मनन आदि के द्वारा वह अपनी आत्मा को परिष्कृत करने का प्रयास

करता है। कुछ समय बाद वही व्यक्ति असंयमपूर्ण कार्यों से पुनः अपनी आत्मा को मलीन बना लेता है। उसे देखकर यह नहीं सोचना चाहिये कि धर्म ध्यान करने से क्या फल मिला ? इनका जीवन तो नहीं सुधरा।

जितने समय पर्यन्त साधक साधना करता है, जितने समय तक वह अपनी भावनाओं को परिष्कार करने का प्रयत्न करता है, कम-से-कम उतना तो लाभ उसे है ही। समयान्तर में उसकी भावनाओं में मलीनता आ जाय तो पुनः वस्त्र प्रक्षालनादि की तरह उसे परिष्कृत करने का प्रयास करना चाहिये। उसका यही लक्ष्य होना चाहिये कि आगे से ऐसी गलती नहीं हो। ऐसा करने वाला व्यक्ति एक-न-एक दिन गलतियों, भ्रान्तियों, कर्मों से हटता हुआ लक्ष्य को प्राप्त कर ही लेता है। जिस प्रकार शिशु गिरता-पड़ता भी निरन्तर प्रयत्न करने पर अन्ततः अच्छी तरह से चलने लग जाता है। □

एक - दूसरे को परस्पर मिटा रहा है आदमी।
संघर्ष की दीवारें भी चुन रहा है आदमी।
प्रतिदिन शांति - शांति चिल्लाने वाला,
आदमी को भी खा रहा है आदमी॥

# शुभाशीर्वाद

जिनके प्रति मानव परिपूर्ण समर्पित होकर चल रहा है, उनकी आंशिक उपेक्षा भी वह सहन नहीं कर सकता। आंशिक उपेक्षा मात्र से ही उसके मन-समुद्र में उछलती हुई तरंगों की तरह हलचल मच जाती है। समर्पण से प्राप्त शुभाशीर्वाद ही, जीवन को प्रगति की दिशा में बढ़ाने में सक्षम बनता है। यह एक वह धुरी है, जिसके आधार पर समर्पित व्यक्तित्व का जीवन दुःख-द्वन्द्व की भयानक अटवी को पार कर जाता है। साधना के क्षेत्र में तो गुरु का शुभाशीर्वाद ही परमावश्यक होता है। उसके बिना साधक को साधना की चरम परिणति प्राप्त हो नहीं सकती। साधना में तन्मयता लाने का प्रमुख अंग है, गुरु का शुभाशीर्वाद। □

स्वार्थी को देश का स्वाभिमान नहीं है।
क्रोधी को किसी का भी भान नहीं है।
मानवता की चीख सुनने के लिये आज,
नेताओं के पास गांधी जैसा कान नहीं है॥

# संकुचित वृत्ति

अनन्त आकाश एवं विशाल पृथ्वी पर निवास करने वाली अनन्तानन्त आत्माएँ एक स्वरूपवाली हैं। आत्मिक स्वरूप की अभेदता को बतलाने के लिये भगवान् महावीर ने स्थानांग सूत्र के प्रथम स्थान में बतलाया है कि—"एगे आया"—आत्मा एक है। क्या संपूर्ण विश्व में एक ही आत्मा है? यदि है तो सबका ज्ञान भी समान होना चाहिये। फिर वक्ता को बोलने की और श्रोताओं को सुनने की आवश्यकता ही नहीं रहेगी। सभी व्यक्ति सुखी रहेंगे या फिर सभी दुःखी। किन्तु यह सब तो नहीं देखा जाता। अतः स्पष्ट है कि सबकी आत्माएँ अलग-अलग हैं।

भगवान् महावीर ने जो एक आत्मा का प्ररूपण किया है, वह मूल स्वरूपापेक्षया है। संसार की समस्त आत्माओं में चैतन्य विद्यमान है। किसी आत्मा की चैतन्य शक्ति अविकसित है, तो किसी की विकसित। अविकसित जीव जब विकसित हो जाता है, तो उसकी आत्मा भी विकसित आत्मा की तरह हो जाती है। अतः प्रत्येक प्राणी के लिये आत्मिक स्वरूपापेक्षया समस्त संसार में स्थित प्राणी, उसका परिवार है। चाहे वह पशु, पक्षी के रूप में हो या देव, दानव के रूप में हो।

इतने विशाल परिवार के प्रति व्यक्ति का आत्मीय भाव और स्नेहवृत्ति होनी चाहिये। किन्तु व्यक्ति की संकुचित वृत्ति इसे स्वीकार नहीं करती। वह सारे विश्व के प्राणी वर्ग के साथ अपना पारिवारिक आत्मीय संबंध नहीं रखती। पशु-पक्षी आदि की बात तो दूर रही समस्त मानवों के प्रति भी मानव का आत्मीय भाव नहीं रह पाता। विभिन्न देशों के आधार पर मानवों का विभाजन हो जाता है। हिन्दुस्तान, पाकिस्तान, इंग्लैण्ड, जापान, रशिया, अमेरिका आदि का विचार आ जाता है। हिन्दुस्तानी व्यक्ति

पाकिस्तानी से लड़ रहा है। वह उसे अपना दुश्मन समझ रहा है। पाकिस्तानी हिन्दुस्तानी को दुश्मन समझ रहा है। एक देश दूसरे देश को अपना दुश्मन समझ रहा है। मानव की संकुचित वृत्ति अपने देश तक ही सीमित नहीं रही, अपितु देश को छोड़कर नगर पर सीमित हुई। नगर में भी अपने परिवार से जुड़ी रह गई। परिवार के अन्दर भी उसका संबंध अपने तक ही सीमित रह गया है। फलस्वरूप आज के युग के मानव की ओर दृष्टिपात किया जाय तो ज्ञात होगा कि भाई-भाई से संघर्ष हो रहा है। पिता-पुत्र से संघर्ष चल रहा है। सास-बहू लड़ रही है। ननद-भौजाई लड़ रही है। कितनी संकुचित वृत्ति बन गई है मानव की। इस संकुचित वृत्ति से वह अनन्त सुख की उपलब्धि एवं परम परमात्मा का वरण करना चाहता है, वह कैसे संभव हो सकता है ? जिस मानव का इतना संकुचित वृत्ति वाला मन है, उसे सुख एवं शांति की प्राप्ति कभी नहीं हो सकती।

मानव की यह संकुचित भावना ही उसे दुःखी बना रही है। जब तक "वसुधैव-कुटुम्बकम्" की विशाल भावना नहीं बनेगी, तब तक मानव की दयनीय स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं आ सकता है।

विशाल सुख की उपलब्धि विशाल हृदय में ही हो सकती है। सर्वज्ञ सर्वदर्शी बनने वाली आत्माएँ संपूर्ण विश्व के प्राणियों के साथ आत्मीय भावना लेकर चलनेवाली होती हैं। राग-द्वेष की वृत्ति से हटने पर ही आत्मीय स्वरूप परिपूर्ण उजागर होता है, तभी अनन्त चतुष्टय विकसित होता है।

प्रत्येक प्राणी को सुख और शान्ति की अनुभूति करने के लिये संकुचित वृत्ति का परित्याग कर उदात्त भावनाएँ रखनी होंगी। □

# भास्कर और मानव

निशा की वेला, सूर्य अस्त हो चुका था। सर्वत्र अंधकार व्याप्त हो रहा था। एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को समीचीन तरीके से देखने में भी समर्थ नहीं हो रहा था। ऐसे समय में निराबाध रूप से गतिमान रात और दिन पर विचार चलने लगा।

प्रातःकाल होता है, सूर्य पूर्वांचल में उदित होकर अगजग में रश्मियाँ विकीर्ण कर देता है। तमिस्रा का नाश हो जाता है। सूर्य की तेजोदीप्त किरणें सर्वत्र प्रकाश फैला देती हैं। अवचेतन स्थिति में विद्यमान मस्तिष्क जागृत हो जाता है। चंचल मस्तिष्क अपना कार्य प्रारम्भ कर देता है। मानव यंत्रवत् अपने दैनंदिन कार्यों में लग जाता है। भास्कर शनैः-शनैः गतिमान होकर मध्याह्न तक प्रचण्डता को धारण कर लेता है और सायंकाल अस्ताचल की ओर चला जाता है।

प्रखर शक्ति संपन्न सूर्य में भी दिन भर में तीन अवस्थाएँ घटित हो जाती हैं, तो क्या उसी प्रकाश में जीने वाले मानव में वे अवस्थाएँ घटित नहीं होती हैं? अवश्यमेव घटित होती हैं।

मानव भी बालत्व, यौवनत्व और वृद्धत्व की अवस्था से गुजरता हुआ एक-न-एक दिन अपने जीवन-दीपक को अस्त कर देता है। प्रत्येक मानव के साथ जन्म और मृत्यु का संबंध जुड़ा हुआ है।

प्रायः व्यक्ति बाल्यकाल को हंसने, खेलने, कूदने आदि क्रीड़ाओं में व्यतीत कर देता है। बाल्यकाल को पूर्ण करके जब यौवन की देहली पर आता है, उस समय वह जवानी के उन्माद से उन्मत्त बन जाता है। कभी-कभी तो हित-अहित के विवेक को भूलकर भयंकर-से-भयंकर कार्य करने का दुस्साहस भी कर बैठता है। इस उन्मत्तता की प्रचण्डता में विरल आत्मा ही सही दिशा बोध प्राप्त

कर पाती है। यौवनत्व को पार करते-करते मानव को वृद्धत्व की स्थिति घेर लेती है। इन्द्रियां क्षीण हो जाती हैं। कान से श्रवण करना, आँख से देखना, नाक से सूंघना, मुंह से बोलना, शरीर से चलना आदि शरीर की सारी क्रियाएँ मंद हो जाती हैं। शरीर जराजीर्ण हो जाता है। यौवन का गुमान नष्ट हो जाता है। अतीत की स्मृतियाँ अनागत को याद करते ही रह जाती हैं।

जीवन का दीपक टिमटिमाने लग जाता है। इन त्रिविध अवस्थाओं से मुक्ति पाने के लिये मानव के पास अतुलनीय शक्ति विद्यमान है। जिस शक्ति के द्वारा वह सदा-सदा के लिये बालत्व, यौवनत्व, वृद्धत्व इन तीनों ही अवस्थाओं से हट सकता है। बस आवश्यकता है—सत्पुरुषार्थ की। □

# बटन दबा : : प्रकाश हुआ

गहनतम अंधकार के बीच बटन दबता है और प्रकाश हो जाता है, अंधकार दूर हो जाता है। ठीक इसी प्रकार अनादि काल से चली आ रही आत्मा में अज्ञान और मिथ्यात्व का गहरा अंधकार व्याप्त है। इस अंधकार का विनाश वीतराग प्ररुपित सम्यकत्व के प्रकाश से ही हो सकता है। जब अन्तरात्मा में वीतराग प्ररुपित सिद्धान्तों का श्रद्धा रूप बटन दबाने से सम्यकत्व का प्रकाश फैल जाता है तब अज्ञान मिथ्यात्व का घना अंधकार विनष्ट हो जाता है। आत्मा को सदा-सदा के लिए एक सच्चा दिग्बोध प्राप्त हो जाता है। आत्म-स्वरूप को जागृत करने के लिये, वीतराग भाव को पाने के लिये वीतराग सिद्धान्त रूपी सम्यकत्व प्रकाश-बटन के दबाने की आवश्यकता होती है। यह बटन कोई योग्य गुरू ही दबा सकता है। सच्चा गुरू ही अज्ञान अंधकार को हटाने में सक्षम बनता है। इसीलिये नीतिकार ने कहा है—

'गु' शब्दस्तु अंधकार, 'रु' शब्दस्तु निरोधकः।
अंधकार निरोधित्वाद् गुरु शब्द इत्युच्चते ॥

गुरु शब्द में 'गु' अक्षर अंधकार का द्योतन करता है और 'रु' अक्षर उसके निरोध का प्रतीक है अर्थात् जो अज्ञान अंधकार का निरोध करते हैं, वही गुरु होते हैं।

जब व्यक्ति की मति सम्यकत्व से परिष्कृत हो जाती है, तब उसमें हित-अहित का बोध पाने की क्षमता जागृत हो जाती है। सम्यकत्व का वह प्रकाश एक-न-एक दिन परिपूर्ण विकसित होता है अर्थात् आत्मा सम्यकत्व को पाकर एक-न-एक दिन सभी दुःखों का अन्त कर डालती है। □

कर पाती है। यौवनत्व को पार करते-करते मानव को वृद्धत्व की स्थिति घेर लेती है। इन्द्रियां क्षीण हो जाती हैं। कान से श्रवण करना, आँख से देखना, नाक से सूंघना, मुंह से बोलना, शरीर से चलना आदि शरीर की सारी क्रियाएँ मंद हो जाती हैं। शरीर जराजीर्ण हो जाता है। यौवन का गुमान नष्ट हो जाता है। अतीत की स्मृतियाँ अनागत को याद करते ही रह जाती हैं।

जीवन का दीपक टिमटिमाने लग जाता है। इन त्रिविध अवस्थाओं से मुक्ति पाने के लिये मानव के पास अतुलनीय शक्ति विद्यमान है। जिस शक्ति के द्वारा वह सदा-सदा के लिये बालत्व, यौवनत्व, वृद्धत्व इन तीनों ही अवस्थाओं से हट सकता है। बस आवश्यकता है—सत्पुरुषार्थ की। □

# बटन दबा : : प्रकाश हुआ

गहनतम अंधकार के बीच बटन दबता है और प्रकाश हो जाता है, अंधकार दूर हो जाता है। ठीक इसी प्रकार अनादि काल से चली आ रही आत्मा में अज्ञान और मिथ्यात्व का गहरा अंधकार व्याप्त है। इस अंधकार का विनाश वीतराग प्ररुपित सम्यकत्व के प्रकाश से ही हो सकता है। जब अन्तरात्मा में वीतराग प्ररुपित सिद्धान्तों का श्रद्धा रूप बटन दबाने से सम्यकत्व का प्रकाश फैल जाता है तब अज्ञान मिथ्यात्व का घना अंधकार विनष्ट हो जाता है। आत्मा को सदा-सदा के लिए एक सच्चा दिग्बोध प्राप्त हो जाता है। आत्म-स्वरूप को जागृत करने के लिये, वीतराग भाव को पाने के लिये वीतराग सिद्धान्त रूपी सम्यकत्व प्रकाश-बटन के दबाने की आवश्यकता होती है। यह बटन कोई योग्य गुरू ही दबा सकता है। सच्चा गुरू ही अज्ञान अंधकार को हटाने में सक्षम बनता है। इसीलिये नीतिकार ने कहा है—

> 'गु' शब्दस्तु अंधकार, 'रु' शब्दस्तु निरोधक: ।
> अंधकार निरोधित्वाद् गुरु शब्द इत्यूच्चते ।।

गुरु शब्द में 'गु' अक्षर अंधकार का द्योतन करता है और 'रु' अक्षर उसके निरोध का प्रतीक है अर्थात् जो अज्ञान अंधकार का निरोध करते हैं, वही गुरु होते हैं।

जब व्यक्ति की मति सम्यकत्व से परिष्कृत हो जाती है, तब उसमें हित-अहित का बोध पाने की क्षमता जागृत हो जाती है। सम्यकत्व का वह प्रकाश एक-न-एक दिन परिपूर्ण विकसित होता है अर्थात् आत्मा सम्यकत्व को पाकर एक-न-एक दिन सभी दु:खों का अन्त कर डालती है। □

# घड़ी और आत्मा

घड़ी की टिक-टिक की आवाज सुनते ही मस्तिष्क में विचार कौंधा। यह टिक-टिक की आवाज कब से प्रारंभ हुई और कब तक चलती रहेगी ? सामान्य-सा समाधान प्राप्त हुआ—जब स घड़ी में चावी भरी गई है, तब से टिक-टिक की आवाज प्रारम्भ हुई है और जब तक चावी पूरी नहीं होगी, तब तक टिक-टिक की आवाज चलती रहेगी अर्थात् घड़ी में एक बार चावी भर देने पर २४ घंटे तक वह अनवरत रूप से चलती रहती है।

क्या ऐसी ही टिक-टिक (धड़-धड़) की आवाज हमारे अन्दर तो नहीं चल रही है ? यह आवाज कब से चली आ रही है और कब तक चलती रहेगी ? हमने कभी इस पर विचार किया है।

इस शरीर रूपी घड़ी में आत्मा की आवाज निरन्तर चल रही है। शरीर का संचालन आत्मा की शक्ति से ही हो रहा है। जिस प्रकार चावी के बिना घड़ी का माडल कोई काम का नहीं होता, उसी प्रकार बिना आत्मा के शरीर का बाह्य माडल किसी काम का नहीं रहता। आत्मा/चेतना रहित शरीर में बोलना, चलना, सुनना, देखना, सूंघना, खाना-पीना आदि कोई क्रिया नहीं होती है। शरीर निष्क्रिय हो जाता है। व्यावहारिक भाषा में जिसे मुर्दे के नाम से पुकारा जाता है।

घड़ी का उतना महत्व नहीं है, जितना कि घड़ी को संचालित करने वाली शक्ति का महत्व है। ठीक इसी प्रकार शरीर महत्व-पूर्ण नहीं है। महत्वपूर्ण है शरीर के अन्दर रहने वाली चेतना-शक्ति का।

अतः हमें श्वान वृत्ति को छोड़कर सिंह की वृत्ति को अपनाना है। श्वान को कोई मारता है, तो वह मारने वाले को न पकड़कर,

वह जिसके द्वारा उसे मार रहा है, उसको पकड़ता है। अर्थात् मनुष्य को न पकड़कर लकड़ी को पकड़ने लगता है। जब कि शेर बंदूक या शस्त्र को न पकड़कर सीधा मारने वाले पर झपटता है।

ठीक यही वृत्ति हमारी होनी चाहिये। हमें शरीर के लिये पुरुषार्थ न कर उसको संचालन करने वाली चेतना शक्ति को विकसित करने के लिये करना चाहिये। □

सुख के लिये मानव आग से खेल रहा है।
विष बुझे बाणों को भी दृढ़ता से झेल रहा है।
इतने पर भी सुखी नहीं बन पाया वह, क्योंकि—
जीवन रथ को सदा उत्पथ में ही ठेल रहा है।।

# मन की उड़ान

दूर-दूर तक विस्तीर्ण शुभ्र नील गगन को देखकर मन में यह कल्पना उठती है, क्यों न आकाश में उड़ान भरी जाये। यह कल्पना एक नहीं अनेक मानवों के मन में उठती है और पूर्व में भी उठती थी। मानव ने इस उड़ान के लिये पुरुपार्थ भी किया। किसी ने पक्षी की तरह छाजलों के पंख लगाकर उड़ने का प्रयास किया तो किसी ने दीर्घकाय पक्षी पर वैठकर उड़ने का प्रयास किया। पुरुपार्थ करते-करते वह इस वाह्य उड़ान में सफल हो गया। हवाई जहाज, जेट विमान, राकेट आदि अनेक नये-नये आविष्कार उसने कर लिये। तथापि विश्व में अनेक ऐसी अदृश्य पहेलियाँ हैं, जिनका समाधान आज तक मानव नहीं कर पाया। और न ही वह खोजों से प्राप्त कर सकता है। इन अदृश्य पहेलियों का ज्ञान वाह्य यंत्रों से नहीं हो सकता, क्योंकि उन यंत्रों से भी तीव्र गति से दौड़ने वाली शक्ति मानव के स्वयं के पास विद्यमान है। उस शक्ति का प्रयोग भौतिक वस्तुओं के लिये होने से उससे अलौकिक उपलब्धियाँ नहीं हो पा रही हैं।

तीव्रगामी मन की गति वैज्ञानिक जगत में भी सबसे अधिक तीव्र मानी गई है। वेगवती शक्ति का उपयोग वाह्य उड़ानों में किया जा रहा है। किन्तु इन उड़ानों से आज तक का इतिहास बतला रहा है कि कोई भी व्यक्ति सुख-शाँति की प्राप्ति नहीं कर पाया है।

मन की उड़ान को ऐन्द्रियक विपयों से हटाकर अध्यात्म की ओर लगाना आवश्यक है। विश्व की सर्वाधिक एवं महत्वपूर्ण शक्ति आत्मा ही है। आत्मा की साधना से ही शक्ति का महास्रोत फूट सकता है। आज के सारे के सारे वैज्ञानिक उस आत्मा को

ओर से प्रायः उपेक्षित से रहे हैं। जहाँ हमने किसी परम आत्म-साधक की ओर दृष्टिपात किया है, जिसने कि अपनी मानसिक उड़ान आत्माकाश में की है, उसने परम-शक्ति की उपलब्धि की है। आवश्यकता है कि मन की उड़ान आत्माकाश में की जाय। □

जहर से भरा मिष्टान्न नहीं चाहिये।
अभिमान से भरा विज्ञान नहीं चाहिये।
आडम्बर में रूचि रखने वाले साधको,
आडम्बर भरा धर्मोत्थान नहीं चाहिये॥

# राष्ट्र और धर्म

चिन्तन की गहराई में जाने पर ज्ञात होगा कि धर्म के आधार पर ही राष्ट्र की धुरी टिकी हुई है। धर्म के अभाव में राष्ट्र की समुचित व्यवस्था चल नहीं सकती। वर्तमान युग में भी जो कुछ राष्ट्र की सुव्यवस्था परिलक्षित हो रही है, वह आंशिक रूप से धर्म को स्वीकार करने का ही प्रतिफल है।

राष्ट्र के अन्दर समुचित शाँति प्रसारित करने के लिये धर्म के वास्तविक स्वरूप को समझाना ही होगा। परतंत्र भारत स्वतन्त्र कैसे बना? क्या अस्त्र-शस्त्रों से? युद्ध से, हिंसा से या फिर अहिंसा से? भारत के किसी भी सुज्ञ नागरिक को पूछने पर आपको यही उत्तर प्राप्त होगा कि भारत की स्वतंत्रता अहिंसा के द्वारा ही प्राप्त हुई है। महात्मा गाँधी का अहिंसक आन्दोलन ही भारत को स्वतंत्र बनाने में सफल हुआ। एक अहिंसा के सिद्धान्त का यत्किंचित् आचरण भी कितना शुभ परिणामकारक बना था। इसी अहिंसा सिद्धान्त को अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर व्यवस्थित रूप से प्रचारित-आचारित किया जाय तो सर्वत्र ही शाँति प्रसारित हो सकती है।

आज मानव दुःखी क्यों हो रहा है? हिंसा, झूठ, अन्याय, अनीति आदि ही उसे तनावग्रस्त और दुःखी बना रहे हैं। अहिंसा, सत्य आदि सिद्धान्तों के बिना मानव का जीवन-व्यवहार नहीं चल सकता। यदि हिंसा से ही सब कुछ होता है तो वह पारिवारिक व्यक्तियों की भी हिंसा कर बैठेगा। किन्तु हिंसा का प्रयोग अपने पारिवारिक जन पर नहीं किया जाता। उन पर तो अहिंसक भाव ही रहता है। बिल्ली जिस मुख से चूहे को पकड़ती है, उसी मुख से अपने बच्चे को भी पकड़ती है। किन्तु चूहे को पकड़ने में हिंसा के भाव और अपने बच्चे को पकड़ने में अहिंसा, रक्षा के भाव होते हैं। हिंसा के भाव ही जीवन में दुःख और द्वन्द की स्थिति

उत्पन्न करते हैं। अहिंसा की परिपूण भावना शांत सुरभिपूर्ण उपवन से ही आ सकती है।

इसी प्रकार सत्य भी जीवन व्यवहार का एक प्रमुख अंग है। व्यक्ति भोजन करने बैठा है और असत्य बोलने की ही प्रतिज्ञा कर रखी है तो वह भूख लगने की बात कह ही नहीं सकता। सत्य के बिना सारा जीवन व्यवहार ही विनष्ट हो जायेगा।

अतः स्पष्ट है व्यक्ति से लेकर राष्ट्र तक सुख और शांति का प्रसार करने के लिये अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह जैसे जीवन्त सिद्धान्तों का यथायोग्य क्रियान्वयन आवश्यक है। □

# पुद्गलों का परिवर्तन

विचरण काल में आचार्य भगवन् के सान्निध्य में जब वम्बोरा से विहार कर गुडेल पहुँचे, तब वहाँ सरपंच के मकान पर एक रात्रि विश्राम हुआ। सायंकालीन प्रतिलेखन के समय हम मुनिगण मिट्टी के फर्श पर प्रतिलेखन कर रहे थे। उस समय एक विचार स्फुरित हुआ। यद्यपि फर्श मिट्टी का है, तथापि मिट्टी दबी हुई होने से वस्त्रादि रज-रंजित नहीं होते। लेकिन रात्रि में बादल बन जाने से कई घंटों तक निरन्तर वर्षा हुई। उससे मिट्टी का फर्श कर्दम के रूप में परिणित हो गया। इस विचित्रता को देखकर मानस-पट पर विचारों का झंझावात चलने लगा। जो स्थान कल तक अच्छा लग रहा था आज वही स्थान बुरा लगने लगा है। पोद्गलिक वस्तुओं के परिवर्तन से मनोज्ञ वस्तु भी अमनोज्ञ बन जाती है। अमनोज्ञ वस्तु भी मनोज्ञ रूप में परिणित हो जाती है।

सुबुद्धि प्रधान ने जितशत्रु राजा को इन्हीं पुद्गलों के परिवर्तन का सत्य बोध करवाया था। गट्टर का पानी जो देखने में असुन्दर, सूंघने में दुर्गन्धमय, स्वाद में भी घृणास्पद था। उसे ही सुबुद्धि ने विभिन्न प्रकार के पोद्गलिक परिवर्तनों से सुगंधित पेयजल बना दिया। जिसे पीकर राजा कहने लगा—ऐसा मधुर जल तो मैंने कभी नहीं पिया। परिवर्तन आ गया जितशत्रु के विचारों में। मान गया वह पुद्गलों की विचित्रता को।

इसी प्रकार गौतम बुद्ध ने उस समय की प्रख्यात गणिका आम्र-पाली को आम्रफल के द्वारा प्रतिबोधित किया था। जो आम्र सुन्दर लग रहा था, वही आम्र फल समय के परिपाक से सड़-गल कर घोर दुर्गन्धमय बन गया।

ठीक इसी प्रकार मानव का यह भौतिक देह पिण्ड भी है जिसकी रक्षा मानव जब गर्भ मे आया तब से लेकर आज तक करता चला आ

रहा है, किन्तु इसमें भी कितना परिवर्तन हो रहा है। पाँचों इन्द्रियाँ क्षीण हो जाती हैं। शरीर में झुर्रियाँ पड़ जाती हैं। मुख से दाँत साफ हो जाते हैं। एक दिन वह आता है, जब इसे मिट्टी में मिला दिया जाता है और इस शरीर पिण्ड में रहने वाली अविनाशी आत्मा अन्य योनि में प्रवेश कर जाती है।

अतः पौद्गलिक तत्वों का सत्यज्ञान प्राप्त कर विनाशी तत्वों से हटकर अविनाशी आत्मा के शाश्वत सत्यों को उजागर करने का प्रयास करना काहिये। जैसा कि निम्न मुक्तक में कहा है—

"पुद्गलों का परिवर्तन घास को दूध में बदल देता है।
पुद्गलों का ही परिवर्तन कुरूप को सुरूप बना देता है।
दुनिया के सारे दृश्य ही जब पुद्गलों से बने हैं,
तो इस तथ्य को क्यों नहीं मानव समझ लेता है॥ □

# गुरु शिक्षा

गुरु की शिक्षा भी जब मन के प्रतिकूल प्राप्त हो तो मन अन्दर से दुःखी और उद्विग्न हो उठता है। मानसिक प्रतिकूलता मन को कभी भी अभिप्रेत नहीं होती। सच्ची जीवनोपयोगी शिक्षा भी उस शिष्य को मन के प्रतिकूल ही महसूस होती है। किन्तु योग्य शिष्य का यह निश्चय उसे सांत्वना प्रदान करता है कि गुरु शिष्य की सदा उन्नति चाहता है।

शिष्य के जीवन में विद्यमान दूषित प्रवृत्तियों को हटाने के लिये गुरु को योग्य शिक्षा देना आवश्यक होता है। यदि गुरु के द्वारा कुछ शिक्षा प्राप्त हो रही है तो उसे प्रसन्न भाव से सदा ग्रहण करना चाहिये। गुरु के द्वारा प्रदत्त शिक्षा के अमृत कण निश्चय ही शिष्य के कर्म मल का प्रक्षालन करने में निमित्त होते हैं। भगवान महावीर की शिक्षा मुनि मेघ की डूबती जीवन नैया के लिये पतवार का काम कर गई। उनके जीवन को भवसागर से पार उतारने में सक्षम बन गई। अतः गुरु की सच्ची शिक्षा शिष्य को सहर्ष सदैव स्वीकार होनी चाहिये। □

# पुनर्जन्म एक ध्रुव सत्य

आज के वैज्ञानिक पुनर्जन्म के तथ्य को स्वीकार कर चुके हैं। अनेक पत्र-पत्रिकाओं में पुनर्जन्म संबंधी घटनाएँ प्रकाशित होती रहती हैं, किन्तु वे सारी घटनाएँ केवल मनुष्य जन्म से ही संबंधित हैं। वर्तमान मानव यदि पूर्वभव में भी मानव ही था तो वह कभी किसी प्रसंग के द्वारा पुनर्जन्म की स्मृति होने पर पूर्वभव की स्थिति का दिग्दर्शन करा सकता है। इसी प्रत्यक्षीकरण के कारण मानव ने पूर्वभव को स्वीकार किया है। उसकी तार्किक बुद्धि यहीं तक पहुँच पाई कि मानव मरकर मानव ही होता है। मानव मरकर पशु नहीं हो सकता और पशु मरकर मानव नहीं हो सकता।

पुनर्जन्म के विषय में जैन धर्म की व्याख्या सबसे विलक्षण, गहन, सूक्ष्म प्रामाणिक रूप में सामने आती है। जैन सिद्धान्तानुसार तो पशु-पक्षी मरकर मानव हो सकते हैं। और मानव मरकर पशु-पक्षी भी हो सकते हैं। पशु-पक्षी ही नहीं वे अपने शुभाशुभ आचरण के द्वारा नरक लोक और देव लोक में भी जन्म ले सकते हैं। नरक और देव लोक कहाँ हैं? इस विषय में अभी विचार न करके अभी तो पुनर्जन्म की विविधताओं के विषय में विचार करना है।

मानव के मन में अनेक प्रकार की विचार तरंगें स्फुरित होती रहती हैं। जब वह नैतिकताओं से परे हटकर राक्षसी रूप धारण कर लेता है, तब भले ही वह क्यों न मानव देह में हो किन्तु राक्षस कहलाता है। और जब उत्तम विचारों में चलता है तो तब उसे देवता भी कहा जा सकता है। आज की व्यावहारिक भाषा में भी वीरता प्रदर्शित करने वाले को नरसिंह की उपमा से उपमित किया जाता है। जब व्यक्ति मानव होकर के भी मानवीय गुणों से रहित होता है, तब यह निश्चयात्मक रूप से कैसे कहा जा सकता है कि वह

व्यक्ति, मनुष्य से मरकर मनुष्य ही होगा। मदिरा से आरोग्य की प्राप्ति नहीं हो सकती, उससे मादकता ही बढ़ेगी। आरोग्य की प्राप्ति तो नवनीत से होगी। रोटी खाने से भूख ही मिटेगी, प्यास नहीं। पानी पीने से प्यास ही बुझेगी, भूख नहीं। शरीर के एक होते हुए भी विभिन्न वस्तुओं के संयोग से उसमें भी विभिन्नता के दर्शन होते हैं। इसी प्रकार मानवशरीर के होने पर भी यदि उसमें दानवी एवं अनैतिकता पूर्ण विचार हैं तो वह व्यक्ति मरकर मानव ही कैसे हो सकता है ? ऐसा व्यक्ति तो अपने विचार एवं आचार के अनुसार मानव के अतिरिक्त अन्य गतियों में भी जा सकता है।

भूमि के एक होते हुए भी जैसे बीज का वपन होगा वैसा ही फल पैदा होगा। इसी प्रकार मानव शरीर सभी मनुष्यों के होते हुए भी आचरण की जैसी स्थिति बनेगी, वैसी ही गति का उदय आयेगा।

अत: जैन सिद्धान्तकारों का यह कथन सर्वथा सत्य है कि पशु-पक्षी हो चाहे मनुष्य, उनका जिस प्रकार का आचरण होगा, उसी प्रकार के कर्मों का बंधन होगा। आज के वैज्ञानिक भी वनस्पति के अन्दर मानव की तरह चेतना स्वीकार करते हैं, तो वहाँ मानव जैसी चेतना कहाँ से आ गई। स्पष्ट है कि मूलत: संसार के समस्त प्राणियों की चेतना समान है। किन्तु आचरण के अनुसार कर्मों का बंधन होने से वह विभिन्न योनियों में परिभ्रमण करती रहती है। जिस प्रकार मानव का शरीर एक जैसा होते हुए भी विभिन्न वस्त्रों का परिवर्तन हो सकता है, उसी प्रकार आत्मा के एक जैसे होते हुए भी कृत कार्यों के अनुसार उसे विभिन्न भवों में परिभ्रमण करना पड़ता है।

यद्यपि वैज्ञानिकों की खोज के अनुसार तिर्यंच गति से मानव में आई हुई आत्मा का कोई स्पष्ट प्रमाण उपलब्ध नहीं हुआ। उसका एक कारण यह हो सकता है कि मानव जीवन में मानवीय व्यवहार ही अधिकांश रूप से परिलक्षित होता है। जिस प्रकार किसी

बच्चे को क्रीड़ा करते हुए देखकर वृद्ध व्यक्ति को स्वयं के बचपन की स्मृति आ जाती है। उसी प्रकार स्मृति की तीव्रता होने पर किसी-किसी मानव को पूर्वभव की मानवीय स्थिति का भी ज्ञान हो जाता है। किन्तु तिर्यंच, नरक या देव का व्यावहारिक रूप मानवीय जीवन में प्रायः कम परिलक्षित होता है। अतः तिर्यंचादि भवों की शीघ्रता से स्मृति नहीं हो पाती। पर इतने मात्र से यह नहीं कहा जा सकता कि मानव मरकर के मानव ही होता है, पशु-पक्षी आदि नहीं। □

व्यापार करने मात्र से कोई धनवान नहीं बनता।
परीक्षा पास करने मात्र से कोई विद्वान् नहीं बनता।
संस्कार हीन जीवन जीने वाला यह मानव,
उच्च कुल में पैदा होने मात्र से महान् नहीं बनता।।

# मिथ्यात्व

ट्यूब लाईट का प्रकाश श्वेत प्रतीत होता है, किन्तु उसी लाईट पर विविध प्रकार के रंगीन पत्रों को लगा देने पर उसका प्रकाश तदनुसार परिणित हो जाता है। यदि लाल रंग का कागज लगाया गया है, तो सारा प्रकाश लाल ही लाल प्रतीत होगा। यदि नीले रंग का कागज है तो प्रकाश नीला प्रतीत होगा।

रोशनी का मूल श्वेत प्रकाश ऊपरी परतों के कारण तत् तत् रूप में परिणित हो जाता है। ठीक इसी प्रकार आत्मिक शक्ति का प्रकाश भी बाह्य आवरणों से उसी रूप में परिणित हो जाता है।

अनेक प्राणी ऐसे होते हैं जिन्हें कितना ही परिश्रम करने पर भी ज्ञान नहीं हो पाता है। यद्यपि आत्मा का मूलतः ज्ञान/प्रकाश अनन्त है। विश्व के कोने-कोने में कहाँ क्या हो रहा है, उसे हस्तामलकवत् देख सकता है, किन्तु उसके ऊपर ज्ञानावरणीय कर्म का आवरण आ जाने से ज्ञान-शक्ति आच्छादित हो जाती है।

आत्मा का स्वच्छ प्रकाश भी मिथ्यात्व के कारण रंगीन हो जाता है। यद्यपि शास्त्रकारों के अनुसार विश्व की अखिल आत्माएँ एक समान हैं, तथापि बाह्य आवरणों के कारण वे विभिन्न रूपों में परिलक्षित होती हैं। आत्मा के मूल प्रकाश का सबसे बड़ा अवरोधक तत्व है—मिथ्यात्व।

जब मिथ्यात्व का रंग आत्मा पर लग जाता है, तो वह अपने निजी स्वरूप को भूलकर बाह्य तत्वों को अपना मान बैठता है। उसका सारा पुरुषार्थ विफल हो जाता है। शास्त्रकार ने स्पष्ट कहा है—

मासे मासे उजोबालो, कुसग्गेणं तु भुंजइ ।
न सो सुयक्खाय धम्मस्स, कलं अग्घइ सोलसिं ॥

मास-मास खमण की तपश्चर्या करनेवाला अज्ञानी साधक

पारणे के दिन कुश की नोक पर आवे उतने भिक्षान्न को ग्रहण कर पुनः मासखमण पचख (प्रतिज्ञा करना) लेता है तथापि उसकी इतनी कठोर तपश्चर्या, सम्यक्त्वी की सोलहवीं कला के बराबर भी नहीं है ।

यह सत्य है कि जिस प्रकार लाईट का श्वेत प्रकाश भी रंगीन पट के कारण रंगीन हो जाता है । उसी प्रकार आत्मा का स्वाभाविक प्रकाश भी मिथ्या श्रद्धा के कारण विकृत हो जाता है । लाईट का चाहे कितना ही तेज प्रकाश हो यदि रंगीन पट है तो वह प्रकाश सारा का सारा रंगीन ही प्रतीत होगा । इसी प्रकार आत्मा पर भी मिथ्यात्व का रंगीन पट लग जाने पर उसका कितना ही पुरुषार्थ हो, वह सारा का सारा मिथ्यात्व के रंग में रंग जाने से सत्पथ दर्शक नहीं हो सकता ।

जिस व्यक्ति के मस्तिष्क में यह बात जम गई कि मेरा मकान ही सबसे बड़ा है । मेरे जैसा मकान दूसरा है ही नहीं और इसी बात पर हठाग्रही बन गया तो क्यों न उसके मकान से बड़ा और सुन्दर मकान हो तथापि ऐसे व्यक्ति की दृष्टि में अपना ही मकान बड़ा होता है । इसी प्रकार जो व्यक्ति अपने एकांश विचार पर हठाग्रही बनकर सत्य विचारों का भी अपलाप कर देता है, वह मिथ्यात्व के कठघरे में आ जाता है । 'चलमाणे चलिए' के सिद्धान्त पर विश्वास नहीं करने के कारण जमालि सत्य पथ से च्युत हो गया । तदनन्तर उसका सारा पुरुषार्थ विपरीतगामी ही रहा ।

अतः प्रत्येक प्राणी का सर्वप्रथम यह अनिवार्य कर्त्तव्य है कि वह अपने विचारों को परिष्कृत करे । मिथ्यात्व के रंगीन पट को हटा दे, ताकि आत्मा का स्वच्छ प्रकाश, अनन्त गुणों को यथार्थ रूप में प्रकट कर सके । □

# अव्यापकता से व्यापकता

जीवन के किसी भी क्षेत्र में व्यापक बनने के लिये, दुस्साध्य कार्य करने की क्षमता होना आवश्यक है। जब तक प्राणी के सामने समस्याओं को सुलझाने की क्षमता नहीं होती, कठिनाइयों का सामना करने की शक्ति नहीं होती, कठिनाइयों एवं दुविधाओं को झेलने की समर्थता नहीं आती, तब तक प्राणी किसी भी क्षेत्र में व्यापक नहीं बन सकता। अतीत के इतिहास को उलट कर देखने पर ज्ञात होगा कि चाहे राजनैतिक क्षेत्र हो या धार्मिक किंवा आध्यात्मिक, हर क्षेत्र में जीवन के शक्ति-दीप को प्रज्वलित करने की आवश्यकता होती है। दुर्बलता, कायरता, अधीरता, कठिनाइयों एवं समस्याओं के अन्धकार को विनष्ट करना होता है।

राजनैतिक क्षेत्र में चक्रवर्ती सम्राटों की घटनाओं का उल्लेख मिलता है कि प्रत्येक चक्रवर्ती को दिग्विजय करने के लिये बहुत बड़े साहस की आवश्यकता रही है। साहस एवं वीरता के साथ जब वे युद्ध के मैदान में उतरे तभी वे अपनी वीरता एवं शक्ति को व्यापक बना पाये।

धार्मिक एवं आध्यात्मिक क्षेत्र की भूमिका पर भी जीवन-शक्ति की परीक्षा करने वाले महानुभावों की भी यही स्थिति रही है।

बुद्ध ने समाधि की खोज करने के लिये चार सत्यों के अन्वेषण में अपने सारे शरीर को शुष्क बना डाला। पारिवारिक संबंध से हटकर वे जंगल की नीरवता में ध्यान-भूमिका में उतर गए। यही नहीं तीर्थंकर महावीर की साधना तो बहुत ही दुःसाध्य पूर्ण रही। उन्होंने राजकीय वैभव को ही नहीं अपितु पुत्री एवं पत्नी का संग भी सर्वथा परित्याग कर दिया। आगार से अनगारी बन गए। भयानक जंगल में प्रवेश करके भी निर्भय बने रहे। शरीर में रह-कर भी अशरीरी की साधना में तन्मय रहे। मूर्त होकर भी अमूर्त

होने के लिए अनवरत साधनाशील बने रहे। कर्मबद्ध होकर भी मुक्ति के लिये निरन्तर बढ़ते चले गए। दुर्लंघ्य घाटियों-सी समस्याओं एवं कठिनाइयों के तूफानों में भी उनका आत्मिक शक्ति-दीप सदैव जलता रहा। अन्ततः उनकी साधना सार्थक हुई। वे अव्यापक से व्यापक बन गए। जो ज्ञान की शक्ति अव्यापक थी वह व्यापक बन गई। जो ज्ञान कर्मों से बद्ध था, वह मुक्त हो गया। अन्तरलोक सदा-सदा के लिये जाज्वल्यमान हो गया। यही नहीं देह मुक्त बनने के लिये "केवली समुद्घात" के द्वारा उन्होंने शरीरस्थ आत्मिक प्रदेशों को एक क्षण के लिए लोक व्यापक बना दिया। तभी सिद्ध के रूप में वे परम व्यापक बन गए।

निकट के अतीत की ओर ध्यान दिया जाय तो ज्ञात होगा महात्मा गाँधी जैसे राष्ट्र पुरुष दुनियां में व्यापक कैसे हो गये ? कितनी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा उन्हें, कितने कष्टों से जूझना पड़ा उन्हें। विघ्नों की कतारें किस प्रकार सामने खड़ी हुईं उनके। तथापि उनके कदम दृढ़ता के साथ बढ़ते ही चले गये। फलतः वे भारत में ही नहीं अपितु पूरे विश्व में व्यापक हो गए।

अव्यापक से व्यापक बनने के लिये दृढ़ता के साथ आगे बढ़ना होगा। आध्यात्मिक जीवन को व्यापक बनाने के लिये और भी अधिक दृढ़ता, वीरता, धैर्य एवं परिपूर्ण समता के साथ निराबाध रूप से साधना के क्षेत्र में उतरना होगा। व्यापक बनना सभी चाहते हैं, किन्तु समस्याओं के समाधान हेतु कठिनाइयों से जूझ नहीं पाते।

अव्यापक से व्यापक बनने के लिये समस्याओं का समाधान करना होगा। कुंठाओं का मोचन करना होगा। कठिनाइयों से जूझना होगा। निराबाध रूप से दृढ़ता के साथ लक्ष्य पर प्रयाण करना होगा। तभी अव्यापकता से व्यापकता का प्रतीक आत्म-दीप जगमगा उठेगा। □

# शक्ति के दो रूप : केन्द्रीयकरण, विकेन्द्रीयकरण

जगत् की प्रत्येक वस्तु में और प्रत्यक प्राणी में किसी-न-किसी प्रकार की शक्ति विद्यमान रहती है। जब तक वह शक्ति विकेन्द्रित रहती है, तब तक किसी भी कार्य को करने में वह समर्थ नहीं हो पाती।

प्रस्तर का एक टुकड़ा विशेप कार्य नहीं कर पाता है, किन्तु प्रस्तरों का समूह व्यवस्थित रूप में जम जाने पर एक भवन का रूप धारण कर लेता है। मूंज का एक सूता कुछ भी नहीं कर पाता, किन्तु मूंज का व्यवस्थित समूह शक्ति संपन्न गजों को भी बाँध देता है। थोड़े से पानी का प्रवाह कुछ भी नहीं कर सकता, किन्तु पानी का जोरदार प्रवाह बड़ी-बड़ी चट्टानों को भी तोड़ने में समर्थ हो जाता है। शक्ति का केन्द्रीयकरण होने पर अल्प सत्व से भी बहुत बड़ा कार्य संपन्न हो सकता है।

यद्यपि हाथी आकार-प्रकार में बहुत स्थूल है, शक्ति भी बहुत है, तथापि वह शेर के सामने टिक नहीं पाता। शेर का शरीर हाथी की अपेक्षा लघु होते हुए भी वह अपनी शक्ति को केन्द्रित करने में समर्थ है। हाथी में इस प्रकार शक्ति के केन्द्रीयकरण का अभाव है। इसीलिये सिंह हाथी को पछाड़ देता है। एक दुबले प्राणी वृषदंश (बिल्ली) की ओर दृष्टिपात किया जाय तो ज्ञात होगा कि जब कभी भी उसे छलांग लगानी होती है तो वह अपने सारे अंगों को संकुचित कर लेता है, शक्ति को केन्द्रित कर लेता है और फिर उस शक्ति के प्रवाह को ऊर्ध्व दिशा की ओर मोड़ देता है। फलस्वरूप वह बहुत बड़ी छलांग लगा लेता है।

मानव के शरीर में भी अनन्त शक्ति का स्रोत है किन्तु शक्ति के विकेन्द्रित होने के कारण वह किसी भी कार्य को सफलता पूर्वक कर पाने में समर्थ नहीं हो पा रहा है। पाँच इन्द्रियों के रूप में

शक्ति का बहुत बड़ा भाग विकेन्द्रित है। उन इन्द्रियों द्वारा गृहीत विषय पर राग-द्वेष रखने से उसकी शक्ति और भी अधिक विकेन्द्रित होती चली जाती है। यह विकेन्द्रीयकरण इतना अधिक बढ़ता है कि वह अपने आप को बिल्कुल सत्वहीन मान बैठता है। जब तक इसका व्यवस्थित रूप से केन्द्रीयकरण नहीं होगा, तब तक मानव किसी भी क्षेत्र में सफलता प्राप्त नहीं कर सकता।

यदि मानव चाहे तो विश्व की विराट् शक्तियों को उपलब्ध, प्रकट कर सकता है। आवश्यकता है अपनी सारी शक्ति / ऊर्जा को अध्यात्म की ओर प्रवाहित करने की। जिस प्रकार वृषदंश अपनी सारी शक्ति को संकुचित करके छलाँग लगा लेता है, उसी प्रकार मानव अपनी सारी शक्ति के प्रवाह को यथार्थ लक्ष्य की ओर प्रवाहित करे तो सारी दुःख-दुविधाओं एवं समस्याओं को लाँघ कर परम शांति का वरण कर सकता है।

आज जितनी भी खोजें हो रही हैं, जितने भी नये-नये आविष्कार सामने आ रहे हैं, वे सब भी तदनुरूप शक्ति के केन्द्रीयकरण के ही परिणाम हैं। प्रयोगशाला में वैज्ञानिक अपनी सारी शक्ति को एक ही खोज में लगा देते हैं, तन्मय हो जाते हैं वे उसमें। भूख और प्यास को भूल जाते हैं। तभी तो नये-नये आविष्कार सामने आते हैं। आज भी साधक अपनी शक्ति को मात्र अध्यात्म की ओर ही केन्द्रित करले तो वैज्ञानिक अनुसंधानों के कुछेक आविष्कारों का ही नहीं, अपितु विश्व की समस्त दृश्य, अदृश्य शक्तियों का विज्ञान प्राप्त कर सकता है। □

# ऊर्जा का दुरुपयोग

किसी भी शास्त्र, मत एवं पंथ के सिद्धान्तों का अवलोकन करने पर यह स्पष्ट परिज्ञात होता है कि सभी ने जगत् के सम्पूर्ण प्राणियों में मानव को सर्वश्रेष्ठ प्राणी माना है। मानव की ऊर्जा इतनी प्रबल है कि वह उसके द्वारा अचिन्त्य कार्य भी संपादित कर सकता है।

इतिहास के पन्नों पर दृष्टिपात करने पर ज्ञात होता है कि आदिम युग में मानव के पास खाने के लिये रोटी नहीं थी, पहनने के लिये वस्त्र नहीं थे, रहने के लिये मकान नहीं थे। धीरे-धीरे चिन्तनशील मानव ने अपनी प्रज्ञा के द्वारा इतना विकास कर लिया कि आज तो दुनिया का मानचित्र ही बदल गया है। किन्तु यह विकास मात्र बाह्य परिवेश और भौतिक साधनों तक ही सीमित रह गया है। अन्तरंग का दीप तो अभी तक बुझा ही है। इसलिये भौतिक साधनों के लिये मानव द्वारा किया गया ऊर्जा का उपयोग वर्षा ऋतु में आर्द्र मिट्टी पर बच्चों द्वारा निर्मित मिट्टी के मकानों की तरह व्यर्थ हो रहा है। आज तक विश्व में ऐसा कोई भी मानव नहीं हुआ, जिसके पास भौतिक सामग्री स्थायी रूप से विद्यमान रही हो। अतः यह सत्य है कि मानव अपनी ऊर्जा का गलत दिशा में प्रयोग कर रहा है, दुरुपयोग कर रहा है।

दुरुपयोग ही नहीं अपितु एक दूसरे के साथ संघर्ष करके वह बहुत बड़ा अहित भी कर रहा है। एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को समाप्त करने पर तुला हुआ है। एक भाई दूसरे भाई की संपत्ति हड़पने में लगा हुआ है। एक समाज दूसरे समाज को नीचा दिखाने के लिये अपनी सारी ऊर्जा लगा रही है। आज सर्जनात्मक रूप कम किन्तु विध्वंसात्मक रूप अधिक सामने आ रहा है।

अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भी यदि देखा जाय तो आज एक राष्ट्र

दूसरे राष्ट्र को समाप्त करने पर तुला हुआ है। नये-नये शस्त्रास्त्रों एवं अणुबमों का आविष्कार हो रहा है। यह भी सुना जा रहा है कि ऐसे अणुबमों का आविष्कार हो चुका है जिसके प्रयोग से भयानक विध्वंसात्मक रूप उपस्थित किया जा सकता है। ऊर्जा का यह कितना बड़ा दुरुपयोग है। मानव अपने हाथों से ही अपने पैरों पर कुल्हाड़ी मारने का कार्य कर रहा है।

मानव के पास यह एक बहुत बड़ी शक्ति है। आवश्यकता है इसे दुरुपयोग के पक्ष से हटाकर सदुपयोग में नियोजित करने की। बाहर से हटाकर अन्तर में लगाने की, भौतिकता से हटाकर आध्यात्मिकता में प्रविष्ट कराने की।

जिस दिन मानव की शक्ति अन्दर की ओर मुड़ जायेगी, अन्तरंग की खोज करना प्रारंभ कर देगी, उसी दिन वह आत्मा की अनन्त शक्तियों की अतल गहराइयों में उतर कर अनन्त अनन्त शक्ति को उद्‌भासित कर देगी। तभी मानव की ऊर्जा का सही माने में उपयोग हो सकेगा। □

# अनागत के दृश्य मानस-पट पर

मानव जीवन में घटनेवाली सभी घटनाएँ समय-समय पर उसके मानस पटल पर उभरती रहती हैं। जिस प्रकार चित्रपट पर एक के बाद एक चित्र आते चले जाते हैं। दर्शक यदि अन्यमनस्क है तो वह चित्रों का अवलोकन नहीं कर सकता। उसी प्रकार मानस-पटल पर उभरने वाली जीवन की घटनाओं को भी द्रष्टा अन्यमनस्क भाव से देखता है या उस ओर से उपेक्षित होता है तो उसे भावी घट-नाओं का बोध ही नहीं हो पाता। अधिकांश मानव चित्त की चंचलता के कारण स्वयं की बहुत बड़ी ज्ञान शक्ति के द्वार का उद्घा-टन ही नहीं कर पाते। भगवान महावीर ने विश्व की प्रत्येक आत्मा में अनंत अनंत शक्ति स्वीकार/प्रतिपादित की है। किन्तु प्राणी उस शक्ति को समझ नहीं पा रहा है, अवलोकित नहीं कर पा रहा है। प्राणी तो क्या प्राणी वर्ग में सर्वश्रेष्ठ कहलाने वाले अधि-कांश मानव भी इस शक्ति से वंचित हैं। अतीत और अनागत को उद्भाषित करने वाली ज्ञान शक्ति को पाने के लिये सबसे पहले चित्त की चंचलता का परित्याग आवश्यक है।

जिस प्रकार एक सरोवर है। उसका पानी निरन्तर हिल रहा है, उसमें उत्ताल तरंगें उठ रही हैं। ऐसे सरोवर के तल पर स्थित वस्तु को कोई देखना चाहता है, किन्तु जल की चंचलता के कारण वह कुछ भी देखने में समर्थ नहीं हो पाता। सरोवर के तल में स्थित वस्तु को देखने के लिये सबसे पहले पानी को शांत करना होगा, उसकी चंचलता को स्थिर करना होगा। जब पानी पूर्णतया शांत हो जाता है तब द्रष्टा सहज रूप से सरोवर के तल पर स्थित सम्पूर्ण वस्तुओं का अवलोकन कर लेता है।

इसी प्रकार मन एक सरोवर है। इसमें विचारों रूपी तरंगें उठती रहती हैं। फलस्वरूप मानस पटल पर आनेवाली घटनाओं

का मानव अवलोकन नहीं कर पाता। जब तक मन की चंचलता को शांत नहीं किया जाता तब तक अतीत एवं अनागत की घटनाओं का बोध प्राप्त नहीं हो सकता। जब तक मन को एकनिष्ठ नहीं किया जाता, तब तक पर्दे पर उभरते चित्रों का अवलोकन नहीं किया जा सकता।

हम सुनते हैं कि बड़े-बड़े योगी पुरुष अतीत एवं अनागत की घटनाओं को जान जाते हैं। उन्हें कोई विशिष्ट ज्ञान हो गया है, ऐसी बात नहीं है। उन्होंने विचार तरंगों को शांत कर मानस-पटलपर उभरने वाली घटनाओं को जानने की क्षमता प्राप्त कर ली है। विश्व का कोई भी मानव अतीत-अनागत की घटनाओं को जानने में सफल हो सकता है। आवश्यकता है मन की चंचलता को शांत करने की। □

# नवीनता का अनुगामी

मानव का मन हर पल नवीन वस्तुओं को देखने, जानने एवं प्राप्त करने का इच्छुक रहता है। जीवन के किसी भी क्षेत्र को देखिये, हर क्षेत्र में मानव की दौड़ नवीन-नवीन वस्तुओं की उपलब्धि के लिये हो रही है।

आज जो मकान बनाया, वही पचास वर्ष बाद पुराना हो गया। मकान निर्माण के समय मन जिसे देखकर प्रफुल्लित होता था, अब उसे ही देखकर वह उद्विग्न हो उठता है। जिन वस्त्रों को उसने बहुत शौक से बनाए थे, वर्ष भर के बाद वे ही वस्त्र उसकी घृणा के पात्र बन जाते हैं। जो वस्तु उसे सुख देने वाली थी, वही उसके लिये दुःखप्रद बन जाती है।

आज का मानव तो इतना अधिक आधुनिक और नवीनता का अनुगामी बनता जा रहा है कि उसे यह भान ही नहीं हो पा रहा है कि जिसे पाने के लिये वह दौड़ रहा है, वह अमृत नहीं जहर है। इस भागमभाग में वह जीवन-लीला को ही समाप्त कर बैठता है। इस नवीनता की आपाधापी में, दौड़ में ही एक दिन वह सब कुछ खो बैठता है। जीवन का नया अध्याय प्रारंभ करने के लिये उसकी आत्मा प्राचीन अध्याय किंवा पूर्व जीवन को छोड़ बैठती है। जब तक यह दौड़ चलती रहेगी तब तक एक के बाद एक जीवन के नए अध्याय में वह प्रवेश करता चला जाएगा अर्थात् एक के बाद एक भव में भ्रमण करता ही चला जाएगा।

मानव को नवीनता का अनुगामी होना चाहिये। हर पल और हर क्षण में उसे नवीन-नवीन अन्वेषण करते रहना चाहिये। किन्तु वह अन्वेषण कौन-सा? वह खोज कौन-सी? बाह्य नहीं अपितु स्वयं के अन्तर जीवन की। उसके अन्तर के जीवन में न

मालूम कितनी-कितनी नवीन शक्तियाँ भरी हुई पड़ी हैं, जिनकी वह सही कल्पना भी नहीं कर पा रहा है।

जिन शक्तियों पर आवरण छाए हुए हैं, कर्म पटल जिन आत्म-रश्मियों को विकीर्ण नहीं होने दे रहे हैं, उन आवरणों एवं पटलों को हटाया जाय, तव नवीन-नवीन शक्तियों का प्रकटीकरण हो सकेगा। यह नवीनता की अनुगामिता ऐसी होगी कि वह सदा-सदा के लिये नवीन परिप्रेक्ष्य में उपस्थित हो जाएगा। और यही सही माने में नवीनता का अनुसरण होगा।

आज का मानव जिसे नवीन समझ रहा है, वह प्राचीन है। प्राचीन ही नहीं, अति प्राचीन है। आज तक संसार में ऐसी किसी भी वस्तु की उद्भूति नहीं हुई जो नवीन हो। मकान वनाना और गिराना कोई नवीनता नहीं है। वस्त्र पहनना और फट जाने पर उन्हें अलग कर नवीन वस्त्र पहन लेना नवीनता नहीं है। नये-नये आइटम, नयी-नयी कटिंगें एवं नई-नई साज-सज्जा में अपने आप को उपस्थित कर देना कोई नवीनता नहीं है। नवीनता वह होती है कि जीवन में आने के वाद वह कभी प्राचीन ही न हो। वही फूल सही माने में प्रफुल्लित है, जो खिलने के वाद कभी मुर्झाया नहीं। स्थायी रूप से नवीनता को पाने के लिये मानव को वाहर से हटकर अन्दर की ओर मुड़ना होगा। जीवन को क्षतविक्षत करनवाले राग एवं द्वेष को नष्ट करना होगा। आत्मा के सही स्वरूप को उजागर करना होगा। तभी जीवन में स्थायी नवीनता आ पाएगी। □

# धर्म के प्रति युवकों की अरुचि भी एक शुभ चिह्न

आधुनिक युग में धर्म-कम करनेवाले लोगों से प्रायः यही सुनने को मिलता है कि युवक धर्म-विमुख होता चला जा रहा है, नास्तिक बन रहा है। उसकी धर्म के प्रति रुचि भी नहीं रही है। इस बात पर मैंने विचार किया और तुलनात्मक ढंग से अध्ययन किया तो ज्ञात हुआ यह कथन भी सच है। वास्तव में बहुत कम युवक, नगण्य युवक ही धर्म के प्रति रुचि रखते हुए परिलक्षित होते हैं। यदि अगली पीढ़ी की धर्म से रुचि उठ जाएगी तो धर्म का अस्तित्व कैसे रहेगा ? कहाँ तो भगवान महावीर का संदेश कि मेरा शासन २१ हजार वर्ष तक निरन्तर चलता रहेगा जबकि अढाई हजार वर्ष में ही बहुत कुछ परिवर्तन नजर आ रहा है। क्या निकट भविष्य में ही धर्म का विलोप हो जाएगा ? और भगवान महावीर ने जो कहा क्या वह ...? नहीं, नहीं ... ऐसा कभी नहीं हो सकता। प्रभु सर्वदा अवितथ भाषी होते हैं। उनकी भाषा में असत्य का एकांश भी नहीं होता, तब फिर इस जटिल समस्या का समाधान कैसे होगा ?

मन की पटरी पर विचारों की ट्रेन बड़ी तेजी से दौड़ने लगी शाश्वत सत्य की खोज में। सर्वज्ञ के वचनों के मर्म को समझने के लिये, सत्य तथ्य को उजागर करने के लिये। अन्ततः सत्यता की झलक परिलक्षित हो गई।

जब कार्य बड़ी तेजी से बढ़ता हुआ परिणति तक पहुँच जाता है, तब निश्चित ही चिन्तन की नई दिशा खुलती है। पानी के प्रवाह को ही देखिये, जब वह बहुत तेज बढ़ता है, तो बढ़ता ही चला जाता है, जब तक कि उसकी परिणति न आ जाय। जिस वक्त वह परिणति तक पहुँचने लगता है एवं सामने कोई अवरोधक तत्व आ जाता है, तो वह उससे टकराकर स्वतः पीछे हट जाता है।

बच्चों के पास खेलने की गेंद होती है, उसे जब वह फेंक देता है तो बढ़ती ही चली जाती है जब तक कि उसकी परिणति न आ जाय। अवरोधक तत्व के आने पर उससे टकराकर वह स्वतः ही पीछे हट जाती है। यही स्थिति कार्य की भी है। जब उसकी चरम परिणति आ जाती है, तब उसे मुड़ना ही पड़ता है। क्योंकि शाश्वत अनन्तता उन कार्यों में नहीं है। ठीक इसी प्रकार युवकों की स्थिति सोचने पर ज्ञात होता है कि युवक की धर्म के प्रति अरुचि बढ़ रही है। वह बहुत अधिक भौतिक बन रहा है। सुख-भोग एवं विलासिता की निरन्तर वृद्धि हो रही है। अश्लील नृत्यों, भोंड़े प्रदर्शनों की ओर भावी पीढ़ी बढ़ती चली जा रही है। यह एक ऐसा प्रवाह है जिसमें युवक और युवतियाँ तेजी से बह रहे हैं। लेकिन कब तक ? जब तक कि इसकी चरम परिणति न आ जाय। अर्थात् इस भौतिकता के अन्दर बढ़ते हुए युवक और युवतियों को सुख और शांति की उपलब्धि नहीं होगी, तो अवश्य ही मोड़ आएगा। निश्चित ही उनके जीवन में परिवर्तन आएगा। कई युवकों में यह परिवर्तन आया भी है और कइयों में आ रहा है।

जिन राष्ट्रों को हम नास्तिक समझते हैं, जो धर्म-कर्म के विषय को कुछ नहीं मानते थे, जो सदा भौतिकता के अनुगामी रहे हैं। आज उनके जीवन में कितना परिवर्तन आ रहा है। वे भौतिकता से हटकर आध्यात्मिक बनने की कोशिश कर रहे हैं।

भारत के प्रसिद्ध वैज्ञानिक श्री कुन्दनसिंह खींवसरा (जो पूर्व में दिल्ली की अणुभट्टी में कार्यरत थे और अब अमेरिका में हैं) जब आचार्य श्री नानेश के सान्निध्य में पहुँचे, तो उन्होंने एकान्त में पूछा कि शान्ति कैसे मिलती है ? आखिर यह प्रश्न क्यों उठा ? इसीलिए कि भौतिकता के प्रवाह में बहते हुए, उसकी तह में पहुँचते हुए भी जब शान्ति की उपलब्धि नहीं होती है, तो अवश्य ही उसमें मोड़ आता है।

ठीक इसी प्रकार युवकों की भी स्थिति हो रही है। वे धर्म से हटकर भौतिकता के प्रवाह में तीव्रगति से बहते जा रहे हैं।

किन्तु जिनको भौतिकता की परिणति का आभास हो रहा है, वे धर्म सन्मुख हो रहे हैं। उनकी धर्म के प्रति रुचि एवं जिज्ञासा बढ़ रही है।

अतः निश्चित है कि यह एक प्रवाह है जो तीव्रगति से बढ़ रहा और बढ़ेगा। किन्तु कब तक? जब तक कि उसकी परिणति न आ जाय। जिस दिन उसकी परिणति आ जाएगी, तो वह स्वतः ही मुड़ जाएगा। भगवान महावीर का शासन निःसंदेह २१ हजार वर्ष तक अनवरत, अक्षुण्ण रूप से चलता ही रहेगा। □

आज केवल धन प्राप्ति की दौड़ लगी है।
एक दूसरे को नीचा दिखाने की होड़ लगी है॥
आज का मानव यह नहीं समझ पा रहा है कि,
आज मात्र विनाश की घुड़-दौड़ ही लगी है॥

# अधिकार और प्रयोग

वन्दर को जब कपड़े का एक छोटा-सा चिथड़ा मिल जाता है, तो वह वजाज वन वैठता है, यह कहावत वहुत प्रचलित है। आज के युग के प्रायः मानवों की भी यही स्थिति परिलक्षित हो रही है।

थोड़ा-सा धन अधिकृत हो गया तो वह धन के अभिमान में सब कुछ भूल जाता है। पारिवारिक जनों के साथ भी कैसा क्या व्यवहार करना चाहिये, उसका भी उसे भान नहीं रहता है। किसी को राष्ट्रीय स्तर पर कुछ पद मिल जाता है तो प्राप्त सत्ता के अभिमान में वह इतना अधिक उन्मत्त हो जाता है कि सत्ता का प्रयोग स्वार्थ सिद्धि में ही करने लगता है। सामाजिक स्तर पर भी कोई किसी भी पद का अधिकारी बन जाता है तो वह अपने से अन्य को तुच्छ मान वैठता है। पद की उन्मत्तता में सब कुछ भूल कर कभी-कभी तो वह त्यागी साधकों की भी अवमानना और अवहेलना कर देता है।

अधिकारों का इस प्रकार का प्रयोग निश्चित ही स्व के लिये घातक है। मदिरा का नशा कुछ ही समय तक रहता है, पश्चात् उसका परिणाम हानिप्रद ही होता है। यदि प्राप्त अधिकारों का गलत रीति से प्रयोग किया गया तो उसकी भी स्थिति इसी प्रकार होती है।

सुई का प्रयोग सीने के कार्य के स्थान पर किसी के चुभाने के रूप में किया गया तो एक दिन ऐसा भी आवेगा कि वह सुई स्वयं (चुभानेवाले) के लिये भी चुभाने का कार्य कर बैठेगी। □

# मनोवर्गणाओं का प्रभावों

आगमों में मन की परिभाषा द्रव्य मन और भाव मन दो प्रकार से विवेचित की गयी है। द्रव्य मन को मेटर के रूप में माना गया है। आज मनोवैज्ञानिक जगत् में भी मन में होनेवाली घटनाओं की गहरी अन्वेषणा चल रही है। सिद्धान्त रूप में किसी के प्रति मन में दुश्चिन्तन करने का भी निषेध किया गया है, क्योंकि उस दुर्भावना का सामने वाले व्यक्ति पर परोक्ष रूप से गलत प्रभाव पड़ता है। इस बात को आज का मनोविज्ञान स्पष्ट रूप से सिद्ध कर रहा है। मास्को के वैज्ञानिक फलादोव ने अपने मस्तिष्क (मानसिक) के विचारों से बिना किसी यंत्र के माध्यम से डेढ़ हजार मील दूर पर स्थित व्यक्ति को प्रभावित किया है। ऐसी एक नहीं अनेक घटनाएँ सामने आ रही हैं, जिन्हें सुनकर सामान्य मानव आश्चर्यान्वित हो जाता है। किन्तु गहराई में उतरने पर ज्ञात होगा कि प्रत्येक मानव के पास मनोवर्गणा की शक्ति रही हुई है। उस शक्ति के सेन्टर से वह दूसरे के विचारों को समझ भी सकता है और अपने विचारों का प्रभाव दूसरे पर डाल भी सकता है।

जिस प्रकार बटन दबाने से मशीन चलने लग जाती है और स्विच बंद करने पर बंद हो जाती है। उसी प्रकार विश्व के प्रत्येक मानव के पास मनोवर्गणा रूपी एक मशीन है। आवश्यकता है उस मशीन के स्विच को दबाने की।

जिस प्रकार रेडियो वायुमण्डल में बिखरे हुए शब्दों को पकड़ लेता है, उसी प्रकार व्यक्ति के द्वारा चिन्तित विचारों से संबंधित मनोवर्गणा, संबंधित व्यक्ति पर अदृश्य रूप में अवश्य प्रभाव डालती है, जिससे वे तनावग्रस्त बन जाते हैं। इस तनावग्रस्तता का क्या कारण है? इसे वे मन की चंचलता के कारण समझ नहीं

पाते हैं। विचारों के बिखराव के कारण ही वे अपने विचारों से दूसरे व्यक्ति को प्रभावित भी नहीं कर पाते।

आज के मनोवैज्ञानिकों ने मन की एकावधानता से दूसरे को प्रभावित करने के तो अनेक प्रयोग कर दिखाये हैं, किन्तु अन्य के विचारों को समझ कर उन्हें बतलाने का प्रयोग वे नहीं कर पाये। यह स्थिति मन को साधनेवाले महायोगियों में ही घटित होती है।

ऐसी साधना का प्रमाण मुझे आचार्य भगवन् के जीवन में अनेक बार देखने को मिला। अन्य व्यक्ति के विचारों को आचार्य भगवन् की प्रखर प्रज्ञा सहज ही जान लेती है।

विश्व का चिन्तनशील मानव भौतिक प्रयोगों से हटकर, आध्यात्मिक प्रयोग करने लग जाय, मन को साधने की प्रक्रिया में लग जाय तो टेलीफोन, टी० वी० आदि की आवश्यकता ही न रहे। मानव का टेलीपेथी संप्रेषण इन सब कार्यों को. बिना किसी यंत्र के माध्यम से संपन्न कर सकता है। □

# आवरण से अनावरण की ओर

विश्व का अखिल मानव जगत् अगणित विचारों से भरा पड़ा है। एक-एक मानव में भी अनगिनत विचारों की उद्भूति और विलुप्ति होती रहती है। आखिर क्या कारण है कि अनवरत प्रेरणा करने पर भी वह शाश्वत् सत्य को उजागर नहीं कर पा रहा है?

मन में जब जिज्ञासा प्रादुर्भूत हुई, तो आत्मा ने समाधान प्रस्तुत किया। जिस प्रकार बादलों का आवरण सूर्य के प्रकाश को आच्छादित कर देता है। ठीक उसी प्रकार कर्म का आवरण आत्मिक प्रकाश को, जीवन के शाश्वत् सत्य को आवृत्त करता है, आच्छादित कर देता है। जीवन के चरम सत्य को उद्घाटित करने के लिये निश्चित ही इन आवरणों को हटाना होगा, अनावृत्त करना होगा। डिब्बे में स्थित वस्तु को देखने किंवा पाने लिये के आवरण, ढक्कन को हटाना ही होगा। आज जीवन का शाश्वत सत्य, कर्मो के घनीभूत आवरण से आच्छादित हो गया है। मानव की मनःस्थिति इस ओर से प्रायः निष्क्रिय-सी रही है।

आत्मा अविनाशी है, उस पर विनाशवान कर्म का आवरण चढ़ा हुआ है। आत्मा अरूपी है, उस पर रूपी कर्म का आवरण आच्छादित है। आत्मा-अमर है, उसे जरा-मरण ने आवृत्त कर रखा है।

मन की तरंगों को, इन आवरणों को हटाने की ओर तरंगित, सक्रिय करना है। अतीत का इतिहास यह प्रमाणित कर रहा है कि सभी श्रेष्ठ महापुरुषों ने जीवन के शाश्वत सत्य को उजागर करने के लिये अथक पुरुषार्थ किया था। वे कंटकाकीर्ण पथ पर दृढ़ता से आगे बढ़े थे। भगवान महावीर, पुरुषोत्तम राम, स्थूलिभद्र, शालिभद्र आदि अनेक महापुरुषों का जीवनवृत इसकी साक्षी दे रहा है।

आज का मनोवैज्ञानिक जगत् भी इस बात को प्रमाणित कर रहा है। जिन्होंने मन की एकावधानता से अकल्पित कार्यों की प्रस्तुति जनता के समक्ष की हैं। शरीर के कार्य सेन्टरों को संचालित करने वाला शक्ति तंत्र आत्मा ही है। बिना आफिसर के आफिस किसी भी काम का नहीं होता। उसी तरह बिना आत्मा के देह-पिण्ड भी किसी काम का नहीं होता। ऐसे देह-पिण्ड को व्यावहारिक भाषा में मुर्दा शब्द से ही अभिव्यंजित किया जाता है, किन्तु आज का मानव इस लक्ष्य से सदा उपेक्षित-सा रहा है। उसकी दृष्टि भौतिकता प्रधान ही रही है इसलिये वह कर्मावरणों को और अधिक घनीभूत बनाता चला जा रहा है। दुःख की परंपरा को विच्छिन्न करने के स्थान पर अविच्छिन्न बना रहा है।

जबतक अनावरण का प्रयास नहीं किया जाता, तबतक जीवन का शाश्वत सत्य उजागर नहीं हो सकता। □

# कोऽहं ?

संसाराब्धि में अनगिनत प्राणियों की उद्भूति और विलुप्ति होती रहती है विभिन्न योनियों में, विभिन्न रूपों में एवं विविध अवस्थाओं में। इस उद्भूति और विलुप्ति के बीच प्राणी अपनी जीवन-यात्रा को अनादिकाल से चला रहा है। इसी यात्रा में भ्रमण करनेवाली आत्मा पर कर्म-पुद्गलों के अनगिनत पर्त लगे हुए हैं। इन पर्तों के कारण ही आत्मा का मौलिक स्वरूप आच्छादित हो जाता है।

वर्तमान युग में जीनेवाले चिन्तनशील मानव ने अपनी अन्वेषणात्मक बुद्धि द्वारा अनेक नये-नये आविष्कार किये हैं। बाह्य जगत की हर वस्तु की खोज में उसकी बुद्धि प्रवेश कर रही है। किन्तु इतने आविष्कार होने पर भी मानव को अभीष्ट सिद्धि प्राप्त नहीं हो पाई है। उसका एक कारण है कि उसने अपने विषय में जानने का बहुत कम प्रयास किया है।

कोऽहं—मैं कौन हूँ ? जब तक वह इस तथ्य को नहीं समझ पाता, तब तक उसका सारा ज्ञान-विज्ञान समुद्र की ऊपरी सतह पर तैरने के समान ही है।

मानव अपने आप को कुछ ऐसे गलत संबंधों के साथ जोड़ लेता है, जिससे कि स्वत्व का वास्तविक बोध पाना उसके लिए दुर्बोध हो जाता है।

सप्त धातुओं से परिणमित इस भौतिक देह-पिण्ड से सबसे पहले वह अपना संबंध जोड़ता है। यह मेरा शरीर है। किन्तु वह यह नहीं सोच पाता है कि जिस प्रकार प्राकृतिक वस्तुओं में बीज का अंकुरित होना, पल्लवित होना, पुष्पित होना, फलित होना, और एक दिन नष्ट हो जाना देखा जाता है। उसी प्रकार यह शरीर भी पौद्गलिक तत्वों से निर्मित होता है, जन्म से बाल्यकाल में आता

है, बाल्यकाल से यौवनत्व में और यौवनत्व से प्रौढ़त्व में होता हुआ जरा-जीर्ण होकर एक दिन विनष्ट हो जाता है। क्या इस प्रकार की विभिन्न परिधियों में गुजरने वाला 'मैं' हूँ ? 'क्या मेरा यही स्वरूप है ?'

चिन्तन की गहराइयों में उतरने पर ज्ञात होगा कि नहीं, मेरा स्वरूप कभी भी ऐसा नहीं हो सकता। शरीर की विनश्वरता यह स्पष्ट करती है कि जो नाशवान है, वह 'मैं' नहीं हो सकता। नाशवान शरीर से संबंधित जितने भी भौतिक तत्व हैं, वे भी मेरे नहीं हैं। माता-पिता, भाई-बहिन, धन-दौलत आदि कोई भी मेरा नहीं है। संसार की सारी ही परिधियों से परे मेरा अस्तित्व है। जिसे जानने के लिये ऋषि-महर्षि रात-दिन साधना-शील बने रहते हैं तथापि उसे खोज पाना बहुत दुर्लभ है।

महाकवि गेटे के जीवन की एक घटना है। गेटे एक उद्यान में घूम रहे थे। चिन्तन का प्रवाह निरन्तर चल रहा था। चिन्तन की वेगवती धारा में बहते गेटे को समय का ध्यान नहीं रहा। काफी रात व्यतीत हो चुकी थी। चौकीदार पहरा लगा रहा था। उसने देखा, इतनी रात्रि में यह कौन व्यक्ति घूम रहा है। कोई चोर होगा? चौकीदार ने उसे ललकारा—तुम कौन हो? इतनी रात गए क्यों यहाँ घूम रहे हो ?

महाकवि गेटे, कवि ही नहीं सुप्रसिद्ध दार्शनिक भी थे। जब उनके समक्ष यह ज्वलन्त प्रश्न आ खड़ा हुआ कि तुम कौन हो, तब वे अपनी दार्शनिक शैली में ही बोले—भाई, मैं इसी की खोज कर रहा हूँ कि "मैं" कौन हूँ। खोज करते-करते पूरी जिन्दगी बीत चुकी है, फिर भी यह नहीं जान पाया हूँ कि मैं कौन हूँ।

सामान्य व्यक्ति दार्शनिक के इस कथन को हास्यास्पद भी समझ सकते हैं। किन्तु गेटे ने एक शाश्वत सत्य का विज्ञान जनता के समक्ष उपस्थित किया था।

भगवान महावीर ने "कोऽहं" का बोध पाने के लिये साना-

पिता, भाई, पत्नी का स्नेह, राज्यपाट, सुख-वैभव सब का त्याग कर संयम का कंटकाकीर्ण पथ स्वीकार किया था। वर्षों तक वन में विचरण करते रहे, मात्र स्वत्व का बोध पाने के लिये—'मैं कौन हूँ' इसे जानने के लिये। भगवान महावीर ही नहीं जो भी महापुरुष इस जगती में हुए हैं, प्रायः सभी ने स्वत्व की अभिव्यक्ति के लिये संसार की सुख-सुविधाओं का सर्वप्रथम त्याग किया था। बाह्य रूप में तो भौतिक तत्व ही अपने आपका बोध प्राप्त करने के लिये सबसे अधिक बाधक होते हैं। इसके अतिरिक्त अन्तरंग की परिधियाँ उनसे भी अधिक बाधक रूप में उभरने लगती हैं। प्रभु महावीर ने बाहरी परिधियों से हट कर वन विहरण में आन्तरिक परिधियों को आत्मा से हटाने के लिये दृढ़तम सत्पुरुषार्थ किया था। लगभग साढ़े बारह वर्ष तक मौन साधना के साथ आत्मिक शक्ति को दबाने वाले कषायों को शांत किया था। भयंकर से भयंकर उपसर्ग आने पर भी प्रभु एक क्षण के लिये भी उत्तेजित नहीं हुए। सत्य है—प्रभु ने अपने स्वत्व का बोध प्राप्त कर लिया था। आत्मा और शरीर के भेद विज्ञान को जान लिया था। फलस्वरूप अपनी आत्मा पर आने वाली कर्म की परिधियों को हटाकर 'मैं कौन हूँ' इस प्रश्न के समाधान के साथ ही 'मैं' का पूर्ण रूप उजागर कर दिया। विश्व का प्रत्येक प्राणी भी "कोऽहं" के वास्तविक स्वरूप को समझे। कोऽहं की यथार्थ अभिव्यक्ति के बिना सुख-अभीप्सा को वह यथार्थ रूप में साकार नहीं कर सकता। □

# भांग पीना सरल है, लहरें लेना कठिन है

भंगेड़ी व्यक्ति भांग तो बहुत पी लेते हैं। पीते समय उन्हें भांग के रसास्वादन की सुखानुभूति तो हो सकती है, किन्तु भांग पीने के बाद जब उन्माद की स्थिति आती है, तब उसके लिये अपने आपको संभाल पाना भी बहुत कठिन हो जाता है। इसीलिये किसी अनुभवी पुरुष ने यह कहावत सत्य ही कही है कि भांग पीना सरल है, पर लहरें लेना कठिन है। भांग की स्थिति व्यक्ति के बाहरी जीवन को उन्माद से ही भरती है। किन्तु मोह की भंग तो कुछ विलक्षण प्रकार की होती है। जो व्यक्ति मोह की भंग को पीता है, वह क्षणिक समय के लिये भले ही सुख की अनुभूति कर सकता है, किन्तु मोह का कुछ इस प्रकार का उन्माद उस पर छा जाता है कि जिससे वह निरन्तर रसातल की ओर ही बढ़ता चला जाता है। जीवन की साज-सज्जा एवं सभी सद्गुणों का विलोप हो जाता है। मानव सदा-सदा के लिये शारीरिक एवं मानसिक तनाव से ग्रस्त हो जाता है। शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक त्रिगुणात्मक हानि से ग्रस्त होता हुआ वह जीवन की अनन्त-अनन्त ऊँचाइयों को अधःपतन की गहरी पर्तों से आच्छादित कर देता है।

वर्तमान युग के भौतिक परिवेश में जीवित रहने वाले अधिकांश बच्चे, प्रौढ़ एवं जरा-जीर्ण वृद्ध भी इस मोह की भांग से पागल हो रहे हैं।

जीवन की शालीनता को सदैव बनाए रखने के लिये मानव को मोह की भंग से दूर रहना आवश्यक है। □

# बन्धन हटाओ, शक्ति पाओ

एक नाविक तमिस्रा पूर्ण निशा में एक तट से दूसरे तट की ओर जाने के लिये नाव में बैठता है और नाव को खेने लगता है। निरन्तर नाव खेते रहता है, घण्टे दो घण्टे ही नहीं पूरी रात नाव खेता रहा। रात बीती, सहस्राधिक रश्मियों को लेकर बाल सूर्य उदित हुआ। नदी का पानी लाल-लाल रश्मियों से रंगीन दिखलाई देने लगा। नाविक ने सोचा--रात भर हो गई, नाव खेते-खेते, अब तो मैं अवश्य ही बहुत दूर आ गया होऊँगा। नौका से उतरा, और इधर-उधर देखने लगा तो उसे मालूम हुआ कि मैं वहीं पर हूँ, जहाँ से चला था। ध्यान से देखने पर उसे अपनी भूल का परिज्ञान हुआ कि मैं तो बैठ गया, पतवार भी बराबर चलाता रहा किन्तु नौका के रस्से खोलना भूल गया। परिणामस्वरूप मेरा सारा का सारा पुरुषार्थ व्यर्थ चला गया।

यह तो एक विश्रुत रूपक है, किन्तु विश्व के प्रायः मानवों की भी यही स्थिति है। हर मानव अपने आप को दुःख के तट से हटाकर सुखपूर्ण तट पर ले जाने के लिये लगा हुआ है अर्थात् बन्धन से मुक्ति पाने के लिये सतत प्रयत्नशील है। किन्तु वह भौतिकता के अंधेरे में, इन्द्रियों के बंधन में बंधकर जीवन की नाव को खेने का प्रयास कर रहा है। रात भर ही नहीं किन्तु पूरी ज़िन्दगी बितादी नाव खेते-खेते। शरीर जरा-जीर्ण हो गया, इन्द्रियाँ शिथिल हो गईं। जीवन मृत्यु के कगार पर आ खड़ा हुआ। किन्तु अभी तक सुख के तट की बात तो दूर रही, उसके ओर-छोर का भी परिज्ञान नहीं हो पाया।

जब तक जीवन की नाव बंधन में पड़ी रहेगी। इन्द्रियां रूपी बन्धन के साथ लगा मोह-आसक्ति का लंगर नहीं हटाया जाएगा, तब तक हमारा सारा पुरुषार्थ निरर्थक ही रहेगा।

संसार के समस्त प्राणी पाँचों इन्द्रियों में से किसी न किसी इन्द्रियासक्ति रूपी बंधन के साथ बंधे हुए हैं। एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के अधिकांश प्राणियों ने अपने जीवन को बंधन से संयोजित कर रखा है, और फिर मुक्ति की कामना करते हैं पर जब तक बंधन हटा नहीं दिये जायेंगे तब तक मुक्ति की प्राप्ति कैसे हो सकती है?

नाव को लक्ष्य तक पहुँचाने के लिये पतवार से नाव को खेने के पहले सबसे पहला कार्य नाविक का यह होता है कि वह नाव को बंधन मुक्त करे और लक्ष्य की ओर ले जाने के लिये गतिशील बनें।

यही स्थिति मुक्ति तट पर पहुँचने के लिये विश्व के प्रत्येक प्राणी की होनी चाहिये। किसी भी प्रकार का पुरुषार्थ करने से पहले जीवन रूपी नाव को ऐन्द्रिक बंधन एवं आसक्ति रूपी लंगर से मुक्त करना आवश्यक है। तभी जीवन-नैय्या योग्य दिशा में गतिशील होती हुई, उसमें बैठे हुए आत्मा रूपी नाविक को मुक्ति के परम सुख-तट तक पहुँचाने में समर्थ हो सकती है। □

# यादृशी भावना यस्य, सिद्धिर्भवति तादृशी

"जिस व्यक्ति की जैसी भावना होती है, उसी के अनुरूप उसे फल की प्राप्ति भी होती है ।" यह उक्ति मानव को संकल्प शक्ति मजबूत करने की प्रेरणा देती है । जिस प्रकार एक छोटी सी चिनगारी के अन्दर पूरे विश्व को जलाने की शक्ति रही हुई है, एक छोटे से अणुवम में पूरे विश्व को भस्मसात् करने की शक्ति होती है । ठीक इसी प्रकार एक छोटी आत्मा में भी विराट शक्ति भरी हुई है । उस शक्ति के महास्रोत को उद्घाटित करने के लिये सर्वप्रथम प्रवल भावना होना आवश्यक है ।

आज हमारे समक्ष एक नहीं, अनेक घटनाएँ ऐसी उभरती हैं, जो हमें आश्चर्यचकित कर देती हैं । हम कम्प्यूटर की शक्ति को देखकर आश्चर्य करते हैं, किन्तु उससे भी अधिक आश्चर्य उत्पन्न करने वाली शक्ति स्वयं व्यक्ति के पास विद्यमान है ।

ऐसी घटना पढ़ने को मिलती है कि वेंगलोर निवासी एक वहिन की मानस शक्ति गणित के संदर्भ में कम्प्यूटर से भी कहीं अधिक वढ़ी-चढ़ी थी । सिडनी (आस्ट्रेलिया) स्थित न्यू साउथ वेल्स विश्वविद्यालय में उनकी तुलना २० हजार पौण्ड मूल्य वाले कम्प्यूटर से की गई थी। इस तुलना में भी उस वहिन का मानस कम्प्यूटर तीव्र वेगशाली सिद्ध हुआ था । जिस प्रश्न का उत्तर पाने में मशीन की प्रतीक्षा करनी पड़ती थी, वहाँ उस वहिन द्वारा तुरन्त उत्तर दे दिया जाता था ।

ऐसी एक नहीं अनेक घटनाएँ हमें देखने, सुनने एवं पढ़ने को मिल जायेंगी । विश्व के प्रत्येक प्राणी के पास ऐसी अनेक अकल्पित शक्तियाँ भरी पड़ी हैं, जिनके प्रगटीकरण के लिये दृढ़ संकल्प की आवश्यकता है । किसी भी कार्य की संपूर्ति तभी हो सकती है, जब हमारा संकल्प मजबूत हो । जिस कार्य में हमारी संकल्प शक्ति

दृढ़ नहीं है, वह कार्य कभी भी समीचीन तरीके से संपन्न नहीं हो सकता।

जिस किसी भी विषय को हमने अपना लक्ष्य बनाया हो, उस को पूर्ण करने के लिये सभी अन्य परिधियों से रहित होते हुए निष्ठा के साथ हम उस ओर तन्मयता पूर्वक कार्यरत हो जाते हैं, तो निश्चित ही संकल्प के अनुसार हमें तदनुरूप सिद्धि प्राप्त होती है—भावनाएँ साकार रूप लेती हैं। □

आज जेण्टलमैन अपनी शान दिखा रहा है।
मुँह को लाल करने के लिए पान चबा रहा है।।
भौतिकता की चकाचौंध में फंसकर यह,
अपने आपको दुःख का मेहमान बना रहा है।।

# मर्यादा बन्धन नहीं है

आधुनिक युग के प्रवाह में वहनेवाले कई साधक संयमीय मर्यादाओं को भी वंधन मान कर अपने आपको उनसे उन्मुक्त करना चाहते हैं। किन्तु विचारणीय विषय है कि क्या मर्यादा भी वंधन है?

पानी के जोरदार प्रवाह को उभयतटों से अनुवंधित नहीं किया जाए तो क्या परिणाम आ सकता है? सारा संसार ही प्रयलंकर रूप ले लेगा।

मानव देश से, देश में भी नगर से, नगर में भी अपने मोहल्ले एवं मकान से अनुवंधित होता है। क्या ये वंधन नहीं हैं?

साधना के क्षेत्र में यद्यपि इसे वंधन रूप माना जा सकता है, किन्तु व्यावहारिक जीवन के लिये तो यह परमावश्यक व्यवस्था है। किसी भी लक्ष्य की प्राप्ति के लिये, कार्य की संसिद्धि के लिये व्यक्ति से लेकर राष्ट्र तक के लिए व्यवस्थित मर्यादाओं पर आचरण आवश्यक होता है।

विद्यार्थी अगर नियमित रूप से निश्चित समय पर स्कूल जाने को वंधन मान ले तो वह अध्ययन नहीं कर सकता है। व्यापारी अगर दूकान पर जाने को वंधन माने तो वह दूकान नहीं चला सकता। वकील यदि कोर्ट में जाना वंधन मान ले तो उसकी वकालत नहीं चल सकती। जीवन के किसी भी क्षेत्र में व्यवस्थित कार्य-प्रणाली के विना कोई भी कार्य सिद्धि प्रदायक नहीं होता।

साधना में गति करने वाले साधक के लिये भी लक्ष्य प्राप्ति हेतु व्यवस्थित मर्यादा एवं कार्यप्रणाली का अनुपालन करना आवश्यक है। यदि साधक उन मर्यादाओं को भी वंधन की स्थिति मानकर उन्मुक्त हो जाता है तो उसकी भी स्थिति स्वयं के लिये हानिप्रद है ही, किन्तु तटों से रहित पानी के द्वारा होने

वाले विनाशकारी रूप की तरह अन्य भव्य-आत्माओं के लिये भी हानिकारक होती है।

किसी भी ट्रेन को किसी भी स्टेशन तक पहुँचने के लिये पटरी का सहारा लेना ही पड़ता है। बिना पटरी के ट्रेन अपने निश्चित लक्ष्य तक नहीं पहुँच सकती। ठीक इसी प्रकार साधक को मुक्ति रूपी लक्ष्य तक पहुँचने के लिये निश्चित रूप से नियमों की पटरी पर चलना अनिवार्य है। बिना पटरी पर चलने वाली ट्रेन कभी भी स्टेशन तक नहीं पहुँच सकती। ठीक इसी प्रकार जो साधक नियम एवं मर्यादाओं को बंधन समझ कर उन परिधियों से हटता हुआ उन्मुक्तता से विचरण करने लगता है, वह अपना निश्चित लक्ष्य परिपूर्ण करने में कभी भी सक्षम नहीं हो सकता। □

आज का युग शेरों का नहीं, गीदड़ों का है।
आज का युग वीरों का नहीं, कायरों का है॥
वर्तमान के रंग को देखते हुए ज्ञानियो,
आज का युग त्यागियों का नहीं भोगियों का है।

# स्वामी या सेवक

आज के युग में स्वामी-सेवक की धारणा भी कुछ विलक्षण प्रकार की दिखाई देती है। प्रायः हर धनपति यह सोचता है कि मैं करोड़ों की संपत्ति का मालिक हूँ। हजारों सेवकों का स्वामी हूँ। परन्तु क्या स्वामी-सेवक की यह भावना उचित है? क्या वास्तव में वह उस संपत्ति का मालिक है? सेवकों का स्वामी है?

विचारों की गहराई में उतरने पर स्पष्ट ज्ञात होगा कि जिसे हम सेवक मानते हैं, जिन्हें हम अपने अधीन मानते हैं वास्तव में वे हमारे अधीन न होकर हम उनके अधीन हैं। करोड़ों की संपत्ति हमारे पास से चली जाय तो हमारी मालकियत ही उससे चली जाती है। सेवक यदि हमें छोड़ दे तो हमारा स्वामीपन ही नष्ट हो जाता है। मालिकपन या स्वामीपन पराश्रित है। जो व्यक्ति अन्य वस्तुओं पर अपना स्वामित्व रखता है, वह वास्तव में उनका स्वामी न होकर स्वयं ही उन वस्तुओं, तत्वों का सेवक बन जाता है।

यही नहीं जो मानव इन्द्रियों एवं मन पर आसक्त होकर चल रहा है तो वह उसका स्वामी न होकर यथार्थ में सेवक है। मन में उठने वाली उद्दाम इच्छाओं तथा इन्द्रियों के विषय की पूर्ति करने में जो लगा हुआ है, वह व्यक्ति कभी स्वामी नहीं हो सकता।

आगम के पृष्ठ अनाथी मुनि एवं श्रेणिक के संवाद के रूप में स्वामी-सेवक का स्पष्ट, यथार्थ बोध कराते हैं। श्रेणिक का सारा ही स्वामीपन पराश्रित था। उनके अभाव में उसका स्वामीपन भी नहीं रह पाता था। किन्तु अनाथी अणगार का स्वामीपन स्वाश्रित था। किसी भी परिस्थिति में उसका स्वामीपन कभी नष्ट नहीं होने वाला था। स्वामीत्व का सच्चा रूप वही होता है, जो कभी नष्ट न हो।

किसी मालिक का नौकर नौकरी छोड़कर चला गया तो मालिक स्वयं ही घर के छोटे-बड़े सारे कार्य करने लगा। उनसे जब कोई मित्र मिलने आया और उन्हें इस प्रकार से कार्य करते देखा तो बोला—अरे आप क्या कर रहे हैं? ये सब तो सेवकों/नौकरों के काम हैं। मित्र को जवाब मिला—जब नौकर भी मुझे छोड़कर जा सकता है तो मैं क्यों नौकर के भरोसे रहूँ कि वह मेरा काम करे। तब तो स्वामी वह हुआ और सेवक मैं। जब उसे ही मेरी परवाह नहीं है तो मैं उसकी अपेक्षा क्यों रखूं। और यदि रखता हूँ तो मेरा स्वामीपन नहीं अपितु सेवकपन स्पष्ट होता है।

कितना गहरा सत्य भरा है इस रूपक में। आज विश्व का प्रायः मानव इस स्वामी-सेवक की वस्तु स्थिति को न समझकर निरन्तर पराश्रित होता जा रहा है, सेवक बनता जा रहा है। अनियंत्रित रूप से बढ़ने वाला आधुनिक विकास मानव को और अधिक पराश्रित तथा सेवक बना रहा है।

स्वामित्व के सच्चे स्वरूप को पाने के लिये पराश्रितता से हटकर हमें स्वाश्रित होना होगा। प्रभु महावीर ने स्वामीपन का सही स्वरूप पाने के लिये बहुत बड़े राज्य, विशाल वैभव, हजारों हजार सेवकों को ही नहीं त्यागा किन्तु इन्द्रिय, मन एवं शरीर की स्थिति से भी विमुख होकर वर्षों तक गिरि-कन्दराओं एवं भयानक जंगलों में निर्भयता के साथ विहरण किया। अन्त में उन्होंने सच्चा स्वामित्व प्राप्त कर लिया, जो कभी भी सेवक के रूप में परिवर्तित नहीं हो सकता। अनन्त-अनन्त काल तक वह स्वामित्व रूप में ही बना रहेगा। स्वामित्व की सत्ता पाने के लिये स्वामी-सेवक की परिधियों को समझना आवश्यक है। □

# शांति का बाधक : मन और शरीर का विक्षेप

विश्व के प्रत्येक मानव को शरीर और मन—ये दोनों शक्तियाँ प्राप्त हैं। मन की पिण्डात्मक शक्ति के अन्दर भावनाओं किंवा विचारों का संचार होता है। जिसे सिद्धान्त की भाषा में भाव मन कहा जाता है।

शरीर यंत्र की भांति विभिन्न प्रकार की क्रियाएं करता रहता है। और मन का प्रवाह किसी और ही दिशा में घूमता रहता है। कानों में अनेक प्रकार के शब्दों का प्रवेश हो रहा है, किन्तु व्यक्ति का उस ओर ध्यान ही नहीं है। नेत्रों के सामने अनेक तरह के रंग-विरंगे रूप आ रहे हैं, किन्तु उस ओर मानव का लक्ष्य ही नहीं है। इसी प्रकार शरीर की हर क्रिया / प्रतिक्रिया से मानव मन बहुत कम संबंधित रह पाता है।

शरीर से संबंधित होते हुए भी मन की स्थिति बहुत चंचल एवं तीव्रगामी है। जब शरीर की हर क्रिया-प्रतिक्रिया के साथ उसका मन संबंधित नहीं रह पाता तो वह कौनसी क्रिया करणीय है और कौन सी अकरणीय है, इसका ध्यान नहीं रख पाता। ऐसी स्थिति में अविचारपूर्वक किया गया कार्य शांति का सही उत्पादक नहीं होता। मन और शरीर का यह विक्षेप ही मानव की शांति को भंग कर उसे शारीरिक, मानसिक, एवं भावनात्मक तनावों से ग्रस्त कर देता है। जिन्हें आधि भौतिक, आधि दैविक और आध्यात्मिक शब्दों से भी अभिव्यक्त किया जा सकता है।

शांति पाने के लिये सबसे प्रथम प्रयास शरीर एवं मन के विक्षेप को दूर करने वाला होना चाहिये। शरीर की हर क्रिया-प्रतिक्रिया का भान मन को सदा रहना चाहिये। वही सेवक अच्छा कार्य कर सकता है, जिसके प्रत्येक क्रिया-कलाप पर स्वामी की दृष्टि हो। उसी प्रकार शरीर की हर क्रिया-प्रतिक्रिया जीवन में शांति

का शुभ संचार तभी कर सकती है जब वह मन से अनुबंधित हो।

मन की शांति को भी स्वतंत्र रूप से प्रवाहित नहीं किया जा सकता। उसके ऊपर भी आत्मा का अंकुश होना आवश्यक है। आत्मा के विवेक रूपी अंकुश से चलनेवाला मन, इन्द्रियों से सम्बद्ध होते हुए भी व्यवस्थित कार्य करने में समर्थ हो सकता है।

प्रभु महावीर ने ऐसी ही प्रणाली को साहजिक योग से संबोधित किया है।

भोजन कर रहा है तो उसे उस समय यह बोध बना रहना चाहिये कि मैं हाथ से कौर तोड़ रहा हूँ, मुंह में चबा रहा हूँ। पेट में उतार रहा हूँ। यही नहीं यदि चल भी रहा है तो उसका मन चलने की गति/क्रिया से संबंधित रहना चाहिये। उठना, बैठना आदि प्रत्येक क्रिया करते समय उसे यह ध्यान रखना आवश्यक है कि मेरे द्वारा इस समय यह कार्य किया जा रहा है। इस प्रकार का अवबोध होने पर ही मन एवं शरीर के बीच होने वाला विक्षेप हट सकता है। विक्षेप हटने पर ही जीवन में शांति का संचार हो सकता है। □

# शब्दों के बल्ब में भावों की ऊर्जा

पौद्गलिक परमाणुओं से निर्मित शब्द अपने आप में न अच्छा होता है, न बुरा होता है। न रागोत्पादक होता है और न ही द्वेषोत्पादक होता है। शब्द से उत्पन्न होनेवाला राग और द्वेष प्रयोगकर्त्ता की भावनाओं पर आधारित होता है। जिन भावों से अनुप्रेरित होकर शब्दों का प्रयोग किया जाएगा। उसी रूप में वे प्राय: प्रभावकारक सिद्ध होते हैं।

शब्दों की अभिव्यक्ति करने से पूर्व उसकी विज्ञप्ति आवश्यक है। किस प्रकार के शब्दों की संयोजना करने पर वे रागोत्पत्ति के कारण बनते हैं और किस प्रकार के शब्दों की संयोजना करनें पर वे द्वेषोत्पत्ति के कारण बनते हैं। अर्थात् किन भावों से संयुक्त होकर प्रयोग किये गये शब्दों का प्रभाव कैसा होता है—रागोत्पत्ति का कारण होता है या द्वेषोत्पत्ति का कारण ? एतद् विषयक मानसिक अध्ययन करने के अन्तर ही शब्दों का प्रयोग करना हितावह होता है। बिना समझे आवेश में आकर या धन-ऐश्वर्य के गर्व में चूर होकर प्रयुक्त किये गये शब्द कभी-कभी हानिकारक सिद्ध हो जाते हैं।

अतीत का इतिहास ऐसे शब्दों के परिणाम को उजागर कर रहा है। महाभारत के जिस युद्ध में रक्त की नदियाँ बह गई थीं, सहस्त्रादिक नरमुंडों से रणांगण पट चुका था। उस प्रलयंकारी युद्ध का मूल कारण हास्य में प्रयुक्त किये गये द्रौपदी के ये शब्द "अन्धे के पुत्र अंधे ही होते हैं", थे। दुर्योधन के अन्त:स्तल को वेधते हुए इन शब्दों ने मन में एक भयंकर प्रतिशोध की भावना पैदा कर दी थी। उसी का परिणाम था महाभारत युद्ध।

मुक्तक की चार पंक्तियों में इसी बात को स्पष्टतया बतलाया है:—

"हास्योत्पादक वचन भी कभी-कभी, गहरे संवेदक हो जाते हैं,
व्यंगोत्पादक वचन भी कभी-कभी, बहुत उत्तेजक हो जाते हैं।
वचनों के तरकस से तीरों को, विचार कर सोचकर निकालिये,
मर्मोद्भापक वचन भी कभी-कभी, मृत्यु के आवेदक हो जाते हैं॥"

शब्द उस बल्ब के समान है, जिसके पीछे भावों की ऊर्जा काम कर रही है। बल्ब को जितनी ऊर्जा प्राप्त होगी, उतना ही वह प्रकाशमान होगा। इसी प्रकार शब्दों का प्रयोग जिन भावों की ऊर्जा से प्रयुक्त किया जाएगा, वह भी उसी रूप में प्रभाव उत्पन्न करने वाला होगा। स्नेह के साथ कहे गये शब्द स्नेह के उत्पादक होंगे। ईर्ष्या के साथ कहे गये शब्द ईर्ष्या के उत्पादक बनेंगे तो क्रोध के साथ किये जानेवाले शब्दों का प्रयोग क्रोध का उत्पादक होगा। कोई व्यक्ति यह चाहे कि मैं किसी पर क्रोध करके अपशब्दों के द्वारा दूसरों को दबा दूं, वश में कर लूं तो यह कतई संभव नहीं है। अपशब्दों की बौछार निश्चित ही सामने वाले व्यक्ति के स्वाभिमान पर चोट मारती है और उसके मन में प्रतिशोध की भावना जागृत करती है। अतः भावों के तरकस से शब्दों के तीरों को सोच समझ कर निकालना चाहिये। □

# परिग्रह किसमें ?

आदि तीर्थंकर सर्वसंशय परिहर्ता ऋषभदेव के समवसरण में चारों ही प्रकार की परिषद् उपस्थित थी। आदि पुरुष के दर्शन कर सभी का चेंहरा खिल रहा था, मन मयूर नाच रहा था। जिज्ञासु अपनी जिज्ञासाओं का समाधान कर परितोष को प्राप्त हो रहे थे। षट्खंडाधिपति, अपार ऐश्वर्य एवं ऋद्धि के स्वामी भरत चक्रवर्ती को भी अपने जीवन के विषय में कुछ जानने की जिज्ञासा प्रादुर्भूत हुई। उठे वे अपने स्थान से और निवेदन किया प्रभु चरणों में। भगवन् मेरी मुक्ति कब होगी ? भगवान ने ज्ञानमयी गंभीर गिरा से उद्घोष किया—भरत ! तुम इसी भव में सभी बन्धनों को तोड़कर मुक्ति में जाओगे। उसी समवसरण में स्थित एक फटे हाल व्यक्ति जिसके पास खाने-पीने के लिये दो जून अन्न भी पूरा नहीं होगा, पहनने के लिये अच्छे वस्त्र नहीं एवं रहने के लिये योग्य मकान नहीं, उसने भगवान के द्वारा भरत की मुक्ति बतला देने पर विचार किया कि जब इतने परिग्रहधारी तथा भौतिक सुखों में रहने वाले भरत भी इसी भव में मुक्ति में चले जाएँगे तो मेरे पास में तो कोई परिग्रह नहीं है। मेरी मुक्ति तो फिर बहुत ही शीघ्र हो जाएगी। वह अपनी मुक्ति के विषय में जानने के लिये उठा एवं भगवन् से पूछा। भगवन् ने कहा, अभी तुम्हें अनेक भव भ्रमण करने अवशिष्ट हैं। दीर्घकाल तक तुम इस संसार में भटकोगे। प्रभु की सत्य एवं स्पष्ट वाणी का उस पर विपरीत असर हुआ। खैर कुछ भी हो। घटना-क्रम लम्बा है, हमें तो यह परिग्रह और अपरिग्रह की मौलिक परिभाषा स्पष्ट बतला रहा है।

सोना-चाँदी, मणि-मुक्ता, परिवार एवं विशाल राज्य के उपभोक्ता होने से ही कोई परिग्रही नहीं हो जाता है और न ही फटे हाल जिसके पास बाह्य रूप में कुछ भी न हो, निष्परिग्रही/निष्कांचन हो

तो भी वह अपरिग्रही नहीं होता। परिग्रह की स्थिति वस्तु के होने या न होने से विशेष संबंधित नहीं है। वस्तु के होने पर भी भरत चक्रवर्ती की परिग्रह की स्थिति नहींवत् थी और भौतिक वस्तुओं के नहींवत् होने पर भी वह फटेहाल मानव बहुत अधिक परिग्रह से भरा था।

यहाँ आकर परिग्रह की मौलिक परिभाषा स्पष्ट हो जाती है। यदि वस्तुओं को रखने मात्र से या उपभोग से परिग्रह होता तो भगवान् ऋषभ भरत को उसी भव में मुक्ति कैसे बतलाते? यदि वस्तुएँ नहीं होने मात्र से कोई अपरिग्रही कहा जाता तो भगवान उस फटेहाल व्यक्ति के इतने भव-भ्रमण की स्थिति का विधान कैसे करते? इन्हीं प्रश्नों का समाधान मिलता है परिग्रह की इस परिभाषा में:—

"मूर्छा परिग्रहो वृत्तो—मूर्च्छा परिग्रह है॥"

वस्तु का होना या न होना मुख्यत: परिग्रह नहीं है, किन्तु उस पर आसक्ति भाव परिग्रह है। यह भरत चक्रवर्ती के दृष्टान्त से स्पष्ट है।

आसक्ति ही परिग्रह का मूल कारण है। केवल वस्तु के होने मात्र से परिग्रह की स्थिति बन जाय तो कोई भी साधु अपरिग्रही बन ही नहीं सकेगा, क्योंकि साधु के पास में भी आवश्यक वस्त्र, रजो-हरण किंवा कमंडल, मोर पिच्छी आदि होते हैं। तात्पर्य यह है कि उन पर मूर्छा न रहे।

अपने आत्मिक उत्थान में आवश्यक अत्यल्प वस्तुओं के अतिरिक्त अन्य सभी वस्तुओं को त्याग दे तथा उन आवश्यक वस्तुओं के रखने एवं उपभोग में भी अनासक्त भाव हो तो तब ही अपरिग्रह का यथार्थ रूप बनता है। □

# विचारों का प्रवाह

विचारों के प्रवाह से विश्व का प्रायः कोई भी मानव अछूता नहीं है। हर मानव पर प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में अपने या दूसरों के विचारों का प्रभाव अवश्य पड़ता है। एक रोगी व्यक्ति की ओर ही देखा जाय। वह जितना अपने रोग से दुःखी नहीं होता उससे अधिक उसके चिन्तन से दुःखी हो जाता है। यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है कि कितना ही भयंकर रोग हो, किन्तु यदि व्यक्ति के विचार उनसे प्रभावित नहीं हैं तो वे उसका कुछ नहीं बिगाड़ सकते। दीपावली पर बच्चों द्वारा छोड़े जानेवाले पटाखों से होनेवाला विस्फोट तभी होता है, जब पटाखे के ऊपर लगी बत्ती पर आग लगाई जाती है। बिना आग लगाए चाहे पटाखे में कितना ही बारूद भरा हो, वह विस्फोटक स्थिति उपस्थित नहीं कर सकता। ठीक इसी प्रकार शरीर कितने ही भयंकर रोगों से आक्रान्त हो जाय किन्तु जब तक उसके साथ विचारों का संबंध नहीं होता है, तब तक वे रोग उस पर हावी नहीं हो सकते।

शांत क्रान्ति के जन्मदाता स्वर्गीय गणेशाचार्य कुछ इसी प्रकार के साधनाशील साधक थे। एक तरफ उनके कंधों पर एक ही संप्रदाय का नहीं अपितु अनेक संप्रदायों के सहस्राधिक साधु-साध्वियों के संचालन का भार था तो दूसरी तरफ उनका शरीर कैंसर सहित अनेक भयंकर रोगों से ग्रस्त था। फिर भी उनके मुखमंडल से सदैव शांति टपकती थी। मरणासन्न अवस्था में तो उनका तेज द्विगुणित रूप में निखर उठा था। घोरतम वेदना में भी परम शांति का एक ही कारण था कि उन्होंने अपने साधनाशील जीवन के द्वारा मनः शक्ति को इस प्रकार नियंत्रित कर लिया था कि शारीरिक रोगों का प्रभाव उनके विचारों पर नहीं पड़ सका।

दूसरी ओर सुडौल एवं स्वस्थ शरीर वाले किसी व्यक्ति को एक

साधक ने कह दिया कि तुम्हारी मृत्यु आज से सातवें दिन हो जाएगी। इन विचारों का प्रभाव सामने वाले व्यक्ति पर इतना तेजी से हुआ कि उसी दिन से ही उसका खाना-पीना, उठना-बैठना, खेलना-कूदना, घूमना आदि सारी क्रियाएँ छूट गई। हर क्षण, हर पल उसके विचार मृत्यु-चिंतन में डूबते गए। देखिए विचारों का प्रभाव कि सातवें दिन आते-आते वह स्वस्थ व्यक्ति बिना किसी रोग के मृत्यु की गोद में जा पहुँचा। विचारों का असर मानव पर कितनी तेजी से होता है, यह इससे स्पष्ट है।

आज अधिकांश रोगी जितने शारीरिक रोग से ग्रस्त नहीं है, उससे कई गुणा अधिक मानसिक रोग से ग्रस्त हैं। शारीरिक रोग का भी मूल कारण विचारों की विकृति ही बतलाया जाता है। अनेक मनोवैज्ञानिकों ने भयंकर से भयंकर माने जानेवाले रोगों का बिना किसी औषधोपचार के केवल (टेलीपैथी) विचार संप्रेषण से ही उपचार कर आरोग्य दिलाया है।

यह वैचारिक शक्ति विश्व के प्रत्येक व्यक्ति के पास है। इसलिये कहा जाता है कि मानव स्वयं अपने आपका कर्ता और भोक्ता है। अतः मानसिक विचारों की स्वच्छता एवं पवित्रता का होना नितान्त आवश्यक है। □

# इन्द्रियातीत शक्ति मनुष्य से बढ़कर पशुओं में

विश्व के समस्त प्राणियों में मानव सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। भगवान महावीर ने दुर्लभता से प्राप्त होने वाले चार अंगों में एक मानव तन भी बतलाया है। इसी प्रकार सभी धर्मों ने किसी न किसी प्रकार से मानव जीवन की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया है। किन्तु सामान्य मानवीय शक्ति से भी कहीं अधिक इन्द्रियातीत शक्ति का विकास पशु जगत् में देखा जाता है। कुत्ते की घ्राण शक्ति इतनी तेज होती है कि वह पदचिह्नों को सूंघते-सूंघते उस पथ से जाने वाले व्यक्ति को पकड़ लेता है। हिरण के कान सुदूर होने वाली आहट को सुन लेते हैं। धरती से मीलों दूर गगनाँगन में उड़ते हुए गिद्ध चील आदि धरती पर स्थित मांस के टुकड़े को देख लेते हैं। देखने, सुनने, सूंघने की क्रियाओं के अतिरिक्त उन्हें इनसे बहुत-सी महत्वपूर्ण जानकारियाँ भी प्राप्त हो जाती हैं, जिससे वे अपनी आत्मरक्षा करने में समर्थ हो जाते हैं। एतद् विषयक विस्तृत जानकारी प्राणी विद्या विशारद जे लांग की पुस्तक 'हाउ एनिमल्स टॉक' में प्राप्त होती है।

सन १९०४ में अमेरिका के पश्चिमी द्वीप में स्थित माउन्ट पीरो नामक ५००० फीट ऊँचा पर्वत ज्वालामुखी का विकराल रूप धारण कर फूटा था। उसके टुकड़े-टुकड़े होकर बिखर गये थे। लगभग ३० हजार व्यक्तियों की मृत्यु तथा करोड़ों रुपयों का नुकसान हुआ। इस दुर्घटना का पूर्वाभास मनुष्यों में से किसी को नहीं हुआ था। जबकि पशु-पक्षियों को महीनों पूर्व से इस बात का आभास हो चुका था। रात्रि में सभी मिलकर एक स्वर से क्रंदन करते थे। धीरे-धीरे पशु-पक्षी उस पर्वत से दूर जंगलों में चले गये थे। सर्प, कुत्ते, सियार आदि भी विस्फोट के स्थान से बहुत दूर सुरक्षित स्थान पर जा चुके थे। यह विज्ञान मानवों से भी अधिक पशुओं में देखा जाता है।

आधुनिक मानव ने तो वर्षा, भूकम्प, आंधी, तूफान आदि की पूर्व जानकारी प्राप्त करने के लिये विभिन्न यंत्रों का निर्माण किया है। किन्तु तिर्यञ्च जगत् के पशु-पक्षियों की चेतना शक्ति इतनी जागृत रहती है कि वे बिना किसी यंत्र के इस प्रकार की अनेक जानकारियाँ समय से बहुत पूर्व ही कर लेते हैं।

इन अनेक उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि मानव से पशु-पक्षियों में इन्द्रियातीत शक्तियों का साहजिक रूप से बहुत अधिक बोध है।

इतना सब कुछ होते हुए भी मानव की प्राणी जगत् में सर्वश्रेष्ठ गणना इसलिये की जाती है कि उसके विकास के लिये बहुत बड़ा आयाम खुला होता है। पशु जगत् का विकास एक निश्चित सीमा तक जाकर रुक जाता है किन्तु मानव विकास तो असीमित होता है। वह अपनी कार्यक्षमता एवं पुरुषार्थ के द्वारा लक्ष्य का अन्तिम छोर भी प्राप्त कर सकता है। □

# आज का वातावरण

आज का हर मानव शोरगुल पूर्ण वातावरण में रहने का अभ्यासी बन गया है। उसके चारों ओर का वातावरण शब्दों के गहरे जाल से भरा हुआ है। सारे वायु-मंडल में ध्वनि तरंगें बिखरी पड़ी हैं। ऐसे वातावरण में जीने वाले मानव की चेतना भी बहिर्मुखी बन जाती है। उसे अपने अन्तरंग की खोज करने का आभास ही नहीं होता है।

भयंकर कोलाहल के बीच रहने वाले व्यक्ति को निस्तब्धता का बोध तब होता है, जब उसे निर्जन शान्त वन-प्रदेश में ले जाया जाय। शान्त वन-प्रदेश में जाने पर ही वह निःशब्दता के वातावरण का आभास कर सकता है। ठीक इसी प्रकार जब तक मानवीय चेतना बाह्य वातावरण में ही भटकती रहेगी, उसी की अन्वेषी बनी रहेगी, तब तक उसे अन्तरंग की अनुभूति नहीं हो सकती है। अन्तरंग का ज्ञान पाने के लिये उसे बाह्य कोलाहल से हटना होगा। भीतर में प्रवेश करने के लिये ध्यान की सीढ़ियों पर चलना होगा। अन्तरंग में विद्यमान अमाप ज्ञान एवं सुख की अनुभूति, बाह्य वस्तुओं से निरपेक्ष हुए बिना कभी भी प्राप्त नहीं हो सकती। □

# अणु में विभु की सत्ता

सुख का अभीप्सु मानव उसकी प्राप्ति के लिये धन-दौलत आदि के विस्तार में अपनी अमूल्य ऊर्जा को निरन्तर खर्च कर रहा है। उसकी यह धारणा बनी हुई है कि जिसके पास अधिक से अधिक धन-दौलत एवं ऐश्वर्य के साधन उपलब्ध है, वह उतना ही अधिक शक्ति संपन्न एवं सुखी है। अधिकांश मानव इसी धारणा को लेकर दिन-रात धन-संपत्ति आदि के विस्तार की उधेड़-बुन में लगे रहते हैं। किन्तु यथार्थता की परिधि मे चिन्तन किया जाय तो यह स्पष्ट ज्ञात होगा कि विस्तारीकरण में जितनी शक्ति एवं सुख की स्थिति नहीं है, उससे कई गुनी अधिक शक्ति अल्पीकरण की अवस्था में सन्निहित है।

आज विश्व के बड़े-बड़े तत्वों में जो शक्ति नहीं है वह शक्ति सूक्ष्म तत्व—परमाणु में विद्यमान है। एक परमाणु पूरे विश्व को नष्ट करने की विराट शक्ति से संपन्न है। आज के वैज्ञानिक अनुसन्धान ने इस बात को स्पष्ट सिद्ध कर दिया है।

आज मानव जिस विराट शक्ति को पाने की उधेड़ बुन में दिन-रात प्रयत्नशील है, उसकी उपलब्धि आज तक वह नहीं कर सका, क्योंकि उसकी अधिकांश खोज स्थूल तत्वों पर ही आधारित रही है। उन स्थूल तत्वों से भी वह यत्किंचित् उपलब्धि ही कर सका है। विभु शक्ति को पाने के लिये उसे अणु की खोज करनी होगी।

भगवान् महावीर ने उस विराट् विभु शक्ति की सत्ता को अणु के समान अति सूक्ष्म आत्मा में स्वीकार किया है। दृश्यमान जगत में अति छोटी सी दीखनेवाली पिपीलिका से भी अत्यन्त सूक्ष्म सूक्ष्म शरीर के अन्दर विराट् चेतना शक्ति सन्निहित है। ऐसी शक्ति का यथार्थता की परिधि में अवलोकन होने पर ही विभु शक्ति को उपलब्ध किया जा सकता है।

मुक्तक की निम्न चार पंक्तियों में यही कहा है:--

छोटी-सी तूली भयानक आग लगा सकती है।
छोटी-सी तूली सुन्दर चित्र बना सकती है।
छोटी-सी वस्तु को देख उपेक्षा कभी मत करो,
अणु-सी आत्मा भी परमात्मरूप जगा सकती है।।

वर्तमान युग के मानव की दृष्टि उस शक्ति की तरफ से प्रायः उपेक्षित रही है। इसीलिये आज तक वह उस विराट् शक्ति को पाने का इच्छुक होते हुए भी प्राप्त नहीं कर पाया है।

भगवान् महावीर ने प्राणी की भक्ति भावना को भगवद् रूप में प्रकट करने के लिये विश्व के प्रत्येक प्राणी में विराट् शक्ति का अस्तित्व प्रतिपादित किया है। "अप्पा सो परमप्पा"—आत्मा ही परमात्मा है।

विश्व की अनन्तान्त आत्माओं में परमात्मा स्वरूप विद्यमान है। संसार की कोई भी आत्मा ऐसी नहीं है, जिसमें ईश्वरीय शक्ति अर्थात् ईश्वर बनने की क्षमता नहीं हो--चाहे वह आत्मा चींटी के शरीर में हो या हाथी के शरीर में।

"भक्त, भक्त ही रहेगा, वह भगवान नहीं बन सकता," जैन दर्शन इस नैराश्यपूर्ण, पुरुषार्थहीन सिद्धान्त को नहीं मानता। वह तो विश्व की प्रत्येक आत्मा में परमात्म रूप विराट शक्ति का दर्शन करता है। जिस प्रकार एक परमाणु में विश्व प्रलयकारी शक्ति सन्निहित है, एक अग्निकण में सारे संसार को भस्म करने की शक्ति समाहित है, उसी प्रकार एक-एक आत्मा में लोकालोक प्रकाशक ज्ञान के साथ अनन्त-अनन्त सुख एवं अनन्त-अनन्त शक्ति विद्यमान है। उस विभु शक्ति को अणु के समान अल्पतम दीखने वाली आत्मा से जागृत करने के लिये सद्-पुरुषार्थ के लक्ष्य की ओर बढ़ने की महती आवश्यकता है। □

# अहं के अहं से अहं की दूरी

अनादिकाल से कर्मों से युक्त आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप को नहीं समझ पा रही है। अतः वह अपने से भिन्न वस्तुओं को भी अपनी तरह समझ बैठती है। ज्योंही वह संसार के रंगमंच पर आती है तो समझ बैठती है कि ये माता-पिता मेरे हैं, यह परिवार मेरा है, यह धन-सम्पत्ति मेरी है। ऐसी अनेक वस्तुओं को वह अपना मान बैठती है। अपने से भिन्न उन वस्तुओं को अपना मानकर वह 'अहं' के बहुत बड़े रोग से संबंधित हो जाती है। अहंकार का फण सिर उठाकर झूमने लगता है। मन की शक्ति भी विकृत बन जाती है। वह सोच बैठती है कि अहो मेरे पास कितना वैभव है, कितनी ऋद्धि है! मैं अपार धन-सम्पत्ति का मालिक हूँ।

इस प्रकार के अहं के कारण वह 'अहं' आत्मा से अपने अहं यानी अपने ही परम स्वरूप से दूर होती चली जाती है। आत्मा में ही परम स्वरूप परमात्मा निहित है, वह परमात्मा स्वरूप आत्मा का ही है। इसीलिये भगवान् महावीर ने स्पष्ट कहा कि "अप्पा सो परमप्पा" आत्मा ही परमात्मा है। आत्मा के अन्दर ही परमात्मा की विराट् शक्ति भरी हुई है। किन्तु कर्मों, कषायों के कारण वह शक्ति आच्छादित है, दबी हुई है। इसके कारण 'अहं' से आत्मा, 'अहं' वैभाविक तत्त्वों को अपना मानकर अहं से, अपने आत्मा के विराट् स्वरूप से दूर होती जा रही है। अहं से अहं को प्रगट करने के लिये वैभाविक तत्त्वों से संबंधित अहं को आत्मा से दूर करना आवश्यक है।

इतिहास के पृष्ठों पर ऐसे एक नहीं अनेक महापुरुषों के जीवन-वृत्त लिखित हैं। वे अपने अहं—परम स्वरूप को प्रगट करने के लिये वैभाविक अहं (अभिमान) से दूर हो गये थे। भगवान् महावीर इसके ज्वलन्त प्रतीक हैं। जिनके पास विशाल राज्य एवं वैभव

थी, भौतिक सुख साधनों की कोई कमी नहीं थी। किन्तु वे उन्हें अपने अहंकार का पोषक मानकर सर्वथा त्याग चुके थे। भगवान महावीर अन्दर एवं बाहर दोनों तरफ से अहंकार का सर्वथा परि-त्याग कर चुके थे। जब ग्वाले ने कानों में कीलें ठोकीं, उस समय भगवान् उसे अपना परिचय दे देते कि मैं अमुक देश के अमुक राज्य का राजकुमार हूँ, तो क्या ग्वाला उनके कानों में कीलें ठोक सकता था? यही नहीं, यदि भगवान् महावीर आँख उठाकर भी उसको देख लेते तो उसकी हिम्मत नहीं हो पाती। किन्तु भगवान् ने अन्य तत्वों के अहं की तो बात ही क्या अपने शरीर के अहं को भी छोड़ दिया था। उनके विचार अहं के परम स्वरूप को विकसित करने के लिये ऊर्ध्वगामी बन चुके थे। लगभग साढ़े बारह वर्ष की गहन साधना के बाद भगवान ने अहं (अभिमान) का सर्वथा विनाश करके अपने अहं में, आत्मा में, अहं का यानी परमात्मा का परम स्वरूप विकसित कर लिया था।

यही स्थिति विश्व के प्रत्येक प्राणी की है। सभी की आत्माओं में परम स्वरूप विद्यमान है, किन्तु उसे विकसित करने के लिये आत्मा पर आच्छादित 'अहं' के वैभाविक तत्व को हटाने की आवश्यकता है। जब तक अहं की दूरी अहं से नहीं होगी, तब तक अहं का स्वरूप प्रकट नहीं हो सकता। □

# ग्रन्थि से ग्रन्थि की दूरी तथा निर्ग्रन्थता प्राप्ति

ग्रन्थि का सीधा-सा तात्पर्य होता है—गाँठ। बाह्य परिवेश में जिस प्रकार अनेक ग्रन्थियों के कारण धागे का गुच्छा उलझ जाता है, उसे सुलझाने के लिये ग्रन्थियों का विमोचन आवश्यक है। जब तक ग्रन्थि विमोचन नहीं होगा तब तक धागा व्यवस्थित नहीं हो सकता। ठीक इसी प्रकार मन भी अनेक प्रकार की मानसिक ग्रन्थियों से उलझा हुआ है। विश्व का प्रायः मानव मेन्टल-टेन्सन (मानसिक तनाव) से ग्रस्त है। किसी के मन में धन कैसे अर्जित किया जाय, इसकी गुत्थी उलझी हुई है तो किसी के मन में धन के अभिवर्द्धन की गुत्थी उलझी है तो किसी के मन में पारिवारिक गुत्थियाँ। न मालूम मानव का मन-मस्तिष्क कितनी कितनी गाँठों में उलझा पड़ा है। सिद्धान्त की दृष्टि से आत्मा की सबसे पहली ग्रन्थि है—मिथ्यात्व मोह। जिसके द्वारा आत्मा में असत् के प्रति श्रद्धान तथा सत् के प्रति अश्रद्धान होता है। अन्तरंग में प्रवेश करने के लिये सबसे पहले मिथ्यात्व मोह की ग्रन्थि का विमोचन आवश्यक है। मिथ्यात्व की ग्रन्थि का विमोचन किये बिना आत्मा वास्तविक शांति के महापथ पर एक कदम भी आगे नहीं बढ़ सकती। अन्तर्मन में स्थित वस्तु जब तक वहाँ से नहीं हटेगी तब तक अन्य वस्तु का प्रवेश उसमें नहीं हो सकता। मन के अन्दर में स्थित मिथ्यात्व मोह का विसर्जन जब तक न होगा तब तक सम्यक्त्व का अर्जन नहीं हो सकता। तनाव पैदा करने वाली गुत्थियाँ जब तक सुलझाई नहीं जायेंगी, तब तक मन रूपी डोरी पर गति करती हुई भाव मन रूपी आत्मा/परमात्मा आत्म-शांति के परम द्वार में प्रवेश नहीं कर सकती।

ज्योंही आत्मा से मिथ्यात्व ग्रंथि का विमोचन होता है, त्योंही सम्यक्त्व मोहनीय ग्रन्थि की उपलब्धि होती है किन्तु दोनों में बहुत अन्तर है। मिथ्यात्व जहाँ पतन का कारण है, वहाँ सम्यक्त्व

उत्थान का कारण है। मिथ्यात्व जहाँ गत्यावरोधक है, सम्यक्त्व वहाँ गति शोधक है। ऐसी सम्यक्त्व ग्रन्थि पर आत्म-शोधक विचारों का स्थायित्व होता है। जिस प्रकार एक रस्सी के एक सिरे पर गाँठ लगा दी जाती है, उसके बाद उसमें जितने भी मोती पिरोए जाएं वे सभी उसमें व्यवस्थित रूप से रहते हुए माला का रूप ले लेते हैं। इसी प्रकार आत्मा से संबद्ध कर्मों को हटाने के लिये सद्‌विचार, सद्‌उच्चार एवं सदाचरण रूपी मोतियों का संकलन आवश्यक है। यह संकलन तभी हो सकता है, जब आत्म-शुद्धि के लिये, अन्तरंग में प्रवेश करने के लिये जिस रज्जु का सहारा लिया जा रहा है, उस पर सम्यक्त्व रूपी ग्रन्थि लगी हो। बिना सम्यक्त्व ग्रन्थि के आत्मशोधक की कोई भी प्रक्रिया मानव को लक्ष्य तक नहीं पहुँचा सकती।

सम्यक्त्व प्राप्ति के अनन्तर आत्मा जब साधना के क्षेत्र में उतरती है तो अपने पुरुषार्थ के द्वारा वह गति करती हुई बारहवें गुण-स्थान को पारकर तेरहवें गुण स्थान में प्रवेश करती है, उस समय वह आत्मस्वरूप की सबसे बड़ी ग्रन्थि मोह का सर्वथा रूप से विमोचन कर देती है। उस समय आत्मा को आत्म स्वरूप की परिपूर्णता प्राप्त कराने वाली यथेप्सित निर्ग्रन्थता प्राप्त होती है। इस प्रकार आत्मा मिथ्यात्व ग्रन्थि को सम्यक्त्व ग्रन्थि से दूर कर निर्ग्रन्थता प्राप्त करती हुई लक्ष्य की ओर प्रगतिशील बनती है। □

# प्रवृत्ति के लिये निवृत्ति आवश्यक

समय की निराबाध गति के अनुसार मानव भी किसी न किसी पथ पर निरन्तर गति कर रहा है, चाहे वह गति उत्थान की ओर ले जाने वाली हो या पतन की ओर। किन्तु जो मानव आत्म-शांति में प्रवृत्ति करना चाहता है, वह पूर्व से जिस पथ पर प्रवृत्ति कर रहा है, सबसे पहले उससे उसे निवृत्ति लेना आवश्यक है। एक ही साथ एक ही समय में मानव की अवधानता पूर्वक दो विषयों में प्रवृत्ति नहीं हो सकती।

जिस बोतल में दुग्ध भरा है, उसी बोतल में पानी को भरने के लिये पहले दुग्ध को बोतल से निकालना आवश्यक है। जब तक बोतल दुग्ध से खाली नहीं हो जाती, तब तक उसमें पानी का प्रवेश नहीं हो सकता। पानी की प्रवृत्ति के लिये दुग्ध की निवृत्ति आवश्यक है। यही स्थिति बनती है आत्म-शोधन के पथ पर बढ़ने वाले पुरुष की। ज्यों-ज्यों उसका मन कु-संस्कारों से निवृत्त होता चला जाएगा, त्यों-त्यों उसमें सुसंस्कारों की प्रवृत्ति भी होती चली जाएगी। दुःख की निवृत्ति पर सुख की प्रवृत्ति संभव है।

अध्यात्म-क्षेत्र की ओर यदि दृष्टिपात किया जाय तो वहाँ भी यही स्थिति परिलक्षित होती है। जब साधक संसार से निवृत्त होता है, तभी उसकी अन्तर-साधना में प्रवृत्ति होती है। जब आत्मा कर्मों से निवृत्त होती है, तभी उसके आत्मिक गुणों की अभिव्यक्ति में प्रवृत्ति होती है।

स्पष्ट है कि हर कार्य की प्रवृत्ति के लिये सर्वप्रथम निवृत्ति आवश्यक है। आत्मशांति के परम लक्ष्य को पानेवाला साधक संसार के सभी मोह बन्धनों एवं भौतिक तत्त्वों से सर्वथा प्रकार से निवृत्त होकर आत्मसाधना के परिपूर्ण पथ पर प्रवृत्तिशील बन जाता है। [illegible] अपार और विशाल ऋद्धि और संपदा के स्वामी थे, किन्तु

जब उनके मन में साधना-पथ पर प्रवृत्ति करने के विचार कौंधे तो वे उसी क्षण संसार के सारे ही माया जाल से निवृत्त हो, आत्म-साधना के दुर्गम/ विकट पथ पर दृढ़ता के साथ अविरल / अविराम / अक्लान्त भाव से बढ़ते ही चले गए। उनकी साधना तब तक अविचल रूप से चलती रही, जब तक उन्होंने लक्ष्य की चरम परिणति नहीं प्राप्त की।

अतः साधक को किसी क्षेत्र में प्रवृत्ति करनी है तो पूर्व में आचरित गलत प्रवृति से सर्वथा निवृत्त होना आवश्यक है। □

सुख के लिए मानव आग से खेल रहा है।
विष बुझे बाणों को भी दृढ़ता से झेल रहा है।
इतने पर भी सुखी नहीं बन पाया वह, क्योंकि—
जीवन रथ को सदा कुपथ में ही ठेल रहा है।

की एक दीवार पर अपनी कला को साकार रूप देना प्रारंभ किया।

हॉल के मध्य में एक आवरण डाल दिया गया। जिसमें अरबी यूनानी परस्पर एक दूसरे का चित्रण नहीं देख सकें। चित्रण का यह कार्य छः मास तक बराबर चलता रहा। छः मास बाद सम्राट अरबी चित्रकारों के चित्र देखने पहुँचे। चित्रों के साकार रूप को देखकर उन्हें प्रसन्नता की अनुभूति हुई, किन्तु युनानियों के पास पहुँच कर सम्राट को बहुत आश्चर्य हुआ। चित्रांकन की बात तो दूर अभी तक तो दीवार की घिसाई चल रही है। सम्राट ने कहा; क्या अभी तक चित्रण नहीं किया? यूनानी चित्रकारों ने कहा, चित्रांकन का कार्य समाप्त हो गया है। बस आप यह मध्य का आवरण हटा दीजिए। वैसा ही किया गया। यूनानी चित्रकारों ने दीवाल को घिस-घिस कर स्फटिक की भांति पारदर्शक बना दिया था। परिणामस्वरूप सामने वाली दीवाल के विचित्र चित्र चतुर्गुणित रूप से यूनानी चित्रकारों की दीवाल पर उभरने लगे। यह देख सम्राट को सुखद आश्चर्य हुआ। सम्राट समझ गये चित्र का सजीव रूप उभारने के लिये भित्ति इतनी स्वच्छ बन जानी चाहिये कि वह पारदर्शक बन जाय।

आत्मा के अन्दर भी परमात्मा के स्वरूप को प्रतिबिम्बित करने के लिये आत्मा की भित्ति को पारदर्शक बनाना आवश्यक है। अर्थात् आत्मा पर कर्मों का जो मलीन आवरण छाया हुआ है, जो विचार अनैतिकता, स्वार्थ, प्रपंच, छलकपट आदि के कारण विकृत बने हुए हैं, इन सबको आत्मा से हटाना आवश्यक है। आत्मा को स्फटिक की भांति निर्मल बनाना होगा। विचारों को विशुद्ध करना होगा। जब आत्मिक जीवन इतना निर्मल बन जाएगा तो परम शांति किंवा परमात्म-स्वरूप प्रतिबिम्बित, प्रतिष्ठापित, प्रतिभाषित हो उठेगा। □

# दुखोत्पत्ति का मूलभूत कारण

वर्तमान युग में मानव को जिस सुख और दुःख की अनुभूति हो रही है, उसको देने वाला संसार का कोई दूसरा व्यक्ति नहीं है। सुख-दुःख की यह अनुभूति प्राणी अपने ही कारणों से करता है। संसार का कोई भी प्राणी किसी को भी सुखी या दुःखी नहीं बना सकता। किन्तु कई मानव गंभीर चिन्तन के अभाव में इस प्रकार विचार कर बैठते हैं—मुझे दुःखी बनाने वाला अमुक व्यक्ति है। इसने मुझे पत्थर से मारा है। उसने मेरे धन, परिवार की हानि की है। अतः वह मेरा शत्रु है। मैं इस शत्रु को किस प्रकार से खत्म करूँ। किस प्रकार की प्रवृत्ति अपनाई जाय, जिससे शत्रु सदा-सदा के लिये समाप्त हो जाय। इस प्रकार के संकल्प-विकल्प वह मन में करता रहता है। इन संकल्पों, विकल्पों से वह नये-नये कर्मों का बन्धन करता रहता है। ऐसा व्यक्ति दुःख का विच्छेदन नहीं अपितु दुःख की दीर्घ परंपरा को बढ़ा लेता है।

दुःख को हटाने के लिये दुःख को पैदा करने वाले मूल तत्त्व की खोज करना आवश्यक है। वृक्ष को उखाड़ने के लिये सबसे पहले मूल को हटाना आवश्यक है। व्यक्ति मूल को न हटाकर शाखा, प्रशाखाओं को ही हटाता है तो वृक्ष का समूल नाश नहीं हो पाता। इसी प्रकार दुःख को उत्पन्न करने का मूल कारण क्या है? इसकी खोज न कर दृश्यमान निमित्त को उत्पादक मानकर उसे नाश करने के लिये प्रवृत्ति करता है तो उसकी यह प्रवृत्ति वृक्ष की शाखा-प्रशाखा को हटाने के समान ही कही जा सकती है।

सही दृष्टि से विचार किया जाय तो विश्व की प्रत्येक आत्मा अपने सुख-दुःख को स्वतः ही उत्पन्न करने वाली है।

चरम तीर्थंकर सर्वज्ञ, सर्वदर्शी प्रभु महावीर ने स्पष्ट रूप से कहा है—

"अप्पा कता विकता य सुहाणाय दुहाणाय ।
अप्पा मितममितंच, सुपठि्ठओ दुपट्ठिओ ।।"

आत्मा सुख-दुःख की स्वयं ही कर्ता और भोक्ता है । त्रियोगों की दुष्प्रवृत्ति में प्रवृत्त आत्मा स्वयं के लिये शत्रु का कार्य करती है । त्रियोगों की सुप्रवृत्ति में प्रवृत्त आत्मा स्वयं के लिये मित्र का कार्य करती है । इस बात को व्यावहारिक रूप से इस प्रकार समझा जा सकता है । एक व्यक्ति तमिस्रा में डोलता हुआ किसी वस्तु से टकरा गया तो यह दोष वस्तु का नहीं अपितु स्वयं का है । उसे प्रकाश करके ही गति करनी चाहिये थी ।

ठीक इसी प्रकार संसार का कोई भी प्राणी जो दुःखानुभूति करता है उसका कारण उसी की अशुभ प्रवृत्ति है । दूसरा कोई भी व्यक्ति उसे दुःखी नहीं बना सकता । शरीर पर चोट लग जाना, धन की हानि, पुत्र की प्राप्ति नहीं होना, पुत्र होकर सुपुत्र नहीं होना आदि भांति-भांति के दुःखं की प्राप्ति मानव को होती है । दुःख की अनुभूति में अन्य प्राणी तो निमित्त मात्र हो सकते हैं । मूलभूत उपादान कारण अशुभ योग में प्रवृत्त स्वयं की आत्मा ही होती है ।

वर्तमान युग में विश्व का प्रायः मानव स्वयं के दुःख में अन्य को हेतु मान बैठा है । उसके मन में इस प्रकार के संकल्प-विकल्प उठा करते हैं—अमुक व्यक्ति ने मेरी इज्जत मिट्टी में मिला दी, वह मेरा शत्रु है आदि । इन्हीं संकल्प-विकल्पों के कारण मानव अधिकाधिक दुःखी बनता जा रहा है । जब तक दुखोत्पत्ति के मूलभूत कारण की ओर मानव का ध्यान नहीं जायगा, तबतक उसका सारा का सारा प्रयत्न दुखोच्छेदक न होकर दुःख संवर्धक ही बनता जाएगा । □

# राष्ट्रोत्थान की मूल भित्ति : चारित्रिक निष्ठा

वर्तमान वैज्ञानिक युग में देश एवं राष्ट्र की सुरक्षा के लिये अनेक प्रयास किये जा रहे हैं। एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र से अजेय बनने के लिये भारी संख्या में शस्त्र निर्माण करने में लगा हुआ है। 'महा-विनाशकारी अणुबमों का सर्जन हो रहा है। हर राष्ट्र की अधिकांश शक्ति इन्हीं तत्वों के सर्जन में खर्च हो रही है। किन्तु विचारणीय प्रश्न है कि इतना सब कुछ खर्च करने पर भी कोई भी राष्ट्र या देश सुरक्षित या निर्भय क्यों नहीं है ?

यह सत्य है कि विनाशकारी तत्वों का निर्माण कभी भी मानव को निर्भय नहीं बना सकता। राष्ट्र की सुरक्षा और जीवन की निर्भयता प्राप्त करने के लिये शस्त्रों की आवश्यकता नहीं है। जीवन के वास्तविक निर्माण के बिना देश या राष्ट्र की सुरक्षा के लिये किया जाने वाला सारा का सारा प्रयत्न अग्नि में घृत डालने के समान व्यर्थ बनता जा रहा है।

जिस देश या राष्ट्र के व्यक्तियों का जीवन नैतिक एवं चारित्र संपन्न है वह देश निश्चित रूप से अजेय बन जाता है। अतीत का इतिहास इस बात का साक्षी है। राम और रावण का युद्ध, कंस एवं कृष्ण का युद्ध इस बात को प्रमाणित कर रहा है। रावण के पास अस्त्र-शस्त्रों का अक्षय भण्डार भरा था। देव-दानव भी जिसकी रक्षा करते थे—अर्थात् परोक्ष रूप से उसके सहायक थे। किन्तु जब रावण के जीवन का चरित्र का पतन होने लगा। सीता के रूप पर आसक्त होकर, उसे उठाकर जब वह अपनी लंका में ले आया तब से उसकी एवं उसके देश की शक्ति क्षीण होने लग गई। राम के पास रावण के समान अधिकाधिक शक्तिशाली शस्त्रादिक नहीं थे। शस्त्र की उपलब्धि होने पर भी राम की विजय में सीता की चारित्रिक निष्ठा का मूलतः प्रभाव था। रावण की सारी शक्ति

चारित्रिक शक्ति के सामने व्यर्थ हो गई। सोने की लंका कलंकित बन गई, नष्ट हो गई। कंस एवं कृष्ण के युद्ध में भी कृष्ण की विजय में नैतिकता, चारित्रिक निष्ठा का ही मूलतः प्रभाव था। इतिहास ऐसी अनेक घटनाओं से भरा हुआ है।

आज देश या राष्ट्र की सुरक्षा करनी है तो देशवासियों में नैतिक एवं चारित्रिक निष्ठा को जागृत करना परमावश्यक है। आज प्रत्येक राष्ट्र की दृष्टि अस्त्र-शस्त्रादिक निर्माण की ओर ही अधिक दौड़ रही है। चारित्रिक निष्ठा की ओर से वह प्रायः उपेक्षित बनता जा रहा है। देशवासियों का निरन्तर चारित्रिक पतन होता जा रहा है। इस चारित्रिक पतन के कारण ही हर राष्ट्र भयभीत बना हुआ है। निर्भयता एवं अजेयता प्राप्त करने के लिये कितना ही अधिक अस्त्र-शस्त्रों का निर्माण कर लिया जाय, किन्तु जब तक चारित्र-निष्ठा देशवासियों में नहीं आएगी, तब तक वह स्थिति प्राप्त नहीं हो सकती। स्पष्ट है कि देश एवं राष्ट्र की सुरक्षा का मूलभूत हेतु देशवासियों की चारित्रिक निष्ठा है। कितना अच्छा हो कि जितना खर्च अस्त्र-निर्माण में प्रत्येक राष्ट्र कर रहा है, उसमें से आधा प्रतिशत ही चारित्रोत्थान के लिये लगाये तो राष्ट्र की सही अर्थों में सुरक्षा हो सकती है। □

# परिवर्तन की दिशा

आज का युग बहुत तेजी के साथ आगे बढ़ता जा रहा है चाहे उसका यह बढ़ना किसी भी रूप में क्यों न हो। आदिम युग के मानव की ऐतिहासिक स्थिति से भी आज के मानव के जीवन में कितना परिवर्तन आ गया है। कहाँ मानव के पास खाने के लिये रोटी, पहनने के लिये कपड़े तथा रहने के लिये मकान नहीं था, वहाँ आज के युग में कितना परिवर्तन हो गया है।

दार्शनिक विवेचनाओं, वैज्ञानिक अनुसन्धानों में भी बहुत कुछ परिवर्तन हो चुके हैं। परिवर्तन की यह आवाज धार्मिक क्रिया-कलापों एवं शाश्वत सिद्धान्तों में भी उठाई जाने लगी है।

क्रांतिकारी कहलाने वाले तथाकथित साधक एवं युवक भी परिवर्तनशील युग के प्रवाह में स्वयं को प्रवाहित करते हुए स्वयं के बचाव के लिये शाश्वत सिद्धान्तों में भी परिवर्तन का वात्याचक्र चलाकर उन्हें तोड़-मरोड़ कर अन्यथा रूप में उपस्थित करने का प्रयास करते हुए नजर आ रहे हैं।

परिवर्तन का यह रूप ही धार्मिक अनुष्ठानों एवं विशुद्ध क्रिया-कलापों पर आधारित साधु जीवन को विकृत बनाता जा रहा है। अनादिकाल से आने वाली विशुद्ध संस्कृति को स्वार्थ के पीछे विकृत बनाना क्या परिवर्तन का सही रूप है?

संसार के शाश्वत तत्वों में कोई परिवर्तन नहीं होता। मिट्टी को घट, कपाल अनेक रूपों में परिवर्तित किया जा सकता है, किन्तु मिट्टी रूप सामान्य गुणों का परिवर्तन नहीं हो सकता। जड़ तत्वों में परिवर्तन होते रहते हैं, किन्तु जड़त्व सामान्य में कोई परिवर्तन नहीं होता। जड़ को भी चैतन्य रूप में परिवर्तित नहीं किया जा सकता।

चैतन्य में उत्पाद, व्यय रूप परिवर्तन होता रहता है, किन्तु चैतन्य के चैतन्यत्व रूप को परिवर्तित नहीं किया जा सकता।

परिवर्तन की आपाधापी में क्या अग्नि के उष्ण गुण को शीतल गुण में परिवर्तित किया जा सकता है ? पानी के शीतल गुण को क्या उष्णत्व रूप में परिवर्तित किया जा सकता है ? कभी नहीं। परिवर्तन की यह दौड़ कभी मूल तत्वों को नहीं वदल सकती।

प्रभु महावीर के द्वारा प्रतिपादित जिनवाणी एवं शेष तीर्थंकरों द्वारा प्रतिपादित वाणी में परिवर्तन है, किन्तु मौलिक तत्वों में नहीं। आज के युग में जो परिवर्तन की आवाज उठाई जा रही है, तथाकथित क्रांतिकारियों के द्वारा जो परिवर्तन की दिशा अपनाई जा रही है, निश्चित रूप से परिवर्तन की इस दिशा का ही परिवर्तन करना पड़ेगा।

परिवर्तन हो, इसमें कोई रुकावट नहीं है, किन्तु सही रूप में हो। इस बात को एक मुक्तक से स्पष्ट किया जा सकता है—

"जड़ को चैतन्य में कभी नहीं बदला जा सकता।
अग्नि को पानी में भी नहीं बदला जा सकता।
परिवर्तन की आवाज तो उठ रही है इस युग में,
पर, महाव्रतों को अणुव्रतों में नहीं बदला जा सकता ॥" □

# जीवन की सायकिल :: भौतिकता के स्टेण्ड पर

प्रचण्ड शक्ति संपन्न सूर्य में भी एक दिन के अन्दर उदय, मध्यान्ह व अस्त रूप से तीन परिवर्तन तो मुख्यतया होते ही हैं। इसी प्रकार शरीर में भी बालकत्व, यौवनत्व और वृद्धत्व रूप से तीन प्रकार के परिवर्तन होते हैं। किन्तु विचारणीय विषय यह है कि परिवर्तन के इस दौरान संसार की प्रायः आत्माओं में इस प्रकार का कोई परिवर्तन नहीं आता जो उसके मौलिक स्वरूप को निखार सके।

यद्यपि मानव के विचार परिवर्तित तो होते ही हैं। बचपन के विचार युवा अरुणिमा में परिवर्तित हो जाते हैं। यौवनत्व के विचारों का वृद्धत्व में परिवर्तन हो जाता है। यह वैचारिक परिवर्तन तो हर क्षण चलता रहता है किन्तु किसी भी मानव की विचार धारा एक दूसरे से सर्वतः समान रूप में नहीं पायी जाती है। परिवर्तन की इस दौड़ में मानव ने भौतिक दृष्टि से तो अकल्पित उन्नति की है किन्तु आध्यात्मिक तथा जीवन के शाश्वत मूल्यों की दृष्टि से वह पिछड़ता ही गया है।

जीवन की इस प्रकार की गति को देखते हुए विचार आता है कि आखिर ऐसा क्यों है ? आत्म-जीवन की अनुस्रोतगामी धारा में प्रति स्रोत का रूप क्यों नहीं उभर रहा है ? अन्य स्वरूप जो कि जन्म-जन्म से विकृत बने हुए हैं, कर्म के असंख्य पर्त जिसके बाधक बने हुए हैं, उन्हें हटाकर क्यों नहीं वह अपने स्वरूप को, अपनी सुषुप्त शक्ति को जागृत कर रहा है ?

चिन्तन की धारा ने इस उभरते प्रश्न को समाहित किया कि आज का मानव भौतिकता के बन्धन से इतना अधिक जकड़ा जा रहा है कि वह इसको छोड़ नहीं पा रहा है। इसी जकड़न में बंधे रहकर ही वह स्व-शक्ति को जागृत करने का प्रयास कर रहा है। लेकिन जब तक भौतिकता की जकड़न नहीं टूटेगी, तब तक उसमें

स्व का संबंध अलग नहीं होगा, तब तक वह स्व-शक्ति को जागृत करने के लिये कितना ही प्रयत्न करले, सफलता नहीं मिल सकती।

वर्तमान मानव की दशा उस व्यक्ति के समान हो रही है, जो सायकिल को चलाने के लिये उसे स्टेण्ड पर खड़ी कर पैडल घुमा रहा है। पैडल भी बहुत तेजी से घुमा रहा है। पैडल कितना ही घुमा ले लेकिन सायकिल एक कदम भी आगे बढ़ नहीं सकती। सायकिल को आगे बढ़ाने के लिये उसे स्टेण्ड से नीचे उतारना होगा। स्टेण्ड से उतारे बिना सायकिल आगे नहीं बढ़ सकती। ठीक इसी प्रकार जीवन की सायकिल भी जब तक भौतिकता के स्टेण्ड पर खड़ी रहेगी, तब तक उसे आगे बढ़ाने के लिये चाहे कितना ही प्रयत्न किया जाय किन्तु वह आगे बढ़ नहीं सकती। आधुनिक युग में प्रायः मानव जीवन की सायकिल को भौतिकता के स्टेण्ड पर खड़ी रखकर पैडल मार रहे हैं सुख-शांति की दिशा में आगे बढ़ाने के लिये, लेकिन वह एक कदम भी आगे नहीं बढ़ रही है। आवश्यकता है शाश्वत मूल्यों को जानने की, शाश्वत शांति को पाने के लिये जीवन की सायकिल को भौतिकता के स्टेण्ड से उतारने की। □

# दान की गोपनीयता

दान देने हेतु सबसे पहले ममत्व का विसर्जन करना आवश्यक है। जो वस्तु देय है, उस पर से जब तक आसक्ति भाव नहीं हटेगा, तब तक वह किसी को दी नहीं जा सकती। आगमिक पृष्ठों पर दान का बहुत महत्व वर्णित है। तुच्छ से तुच्छ दिया गया दान भी महान् फलदायी होता है। होना चाहिये दान के साथ विशुद्ध भावों का संबंध। भगवान् महावीर को चन्दनबाला ने उड़द के बाकले ही दिये थे। किन्तु बाकलों के साथ भावों की अत्यन्त विशुद्धता थी। उसी का प्रभाव था कि दान देते ही साढ़े बारह करोड़ सोनैयों की वर्षा हुई। कच्चे सूत की भांति सांकले टूट गईं। मस्तक की शोभा पूर्व से भी अधिक निखर उठी। पूरे नगर में चन्दनबाला का यशोगान होने लगा। यह फल तो प्रत्यक्ष है। दान का फल परोक्ष में भी अत्यन्त सुखप्रद होता है।

आज के युग में दान का प्रचलन तो बहुत है किन्तु दान किस प्रकार देना चाहिये, इस विधि से दानी वर्ग प्रायः अनभिज्ञ है। आज का दान तो एक व्यापार हो गया है। जिस प्रकार व्यापारी क्रय-विक्रय करते हैं, माल बेचकर उससे अधिक लाभ उठाने की कोशिश करते हैं, उसी प्रकार दानी भी थोड़ा सा दान देकर अपना यश चाहता है। यदि किसी ने उपाश्रय बनवा दिया, तो यह आवश्यक हो गया कि उसके ऊपर उस दानवीर सेठ का नाम होना चाहिये। औषधालय, दवाखाना, पाठशाला, धर्मशालाएँ आदि सभी दानों के साथ प्रायः दानदाता के मन में प्रशंसा की भूख लगी रहती है। ऐसा दान सच्चे अर्थों में दान नहीं होता, यह तो यश-प्रसार के लिये है। व्यापारी की तरह दान देकर यश पाना व्यापार है। गरीब को दो जून रोटी देने के लिये शायद कोई तैयार नहीं होगा, किन्तु जहाँ उसका नाम

शिलापट्ट पर लिखा जानेवाला है, पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होने-वाला है, वहाँ तथाकथित दानवीरों के धन-कोष खुल जाते हैं। लाखों रुपये देने में भी उन्हें कोई हिचकिचाहट नहीं होती। इस प्रकार से दिया जाने वाला दान कभी भी महान् फलदायक नहीं होता। ऐसे दानकर्ताओं की स्थिति का दिग्दर्शन तो निम्न दोहे से स्पष्ट होता है :—

एरन्ड की चोरी करे, करे सूई को दान।
ऊपर जाकर देखते, कब आवे विमान ॥

देय वस्तु कितनी ही तुच्छ क्यों न हो, यदि उसके साथ निःस्वार्थ भावना हो तो वह तुच्छ वस्तु भी महान् फलप्रदायक बन जाती है। शालिभद्र की आत्मा ने ग्वालिये के भव में दुग्ध-पाक (खीर) का दान दिया था। विशुद्ध भावों के साथ दान को भी गुप्त रखा। अपनी माता को भी नहीं बताया कि मैंने दुग्ध-पाक खाया नहीं, महाराज को दान दे दिया है। इतना-सा दान उसके जीवन में एक नया मोड़ ले आया। वह ग्वाल पुत्र शालिभद्र के रूप में अपरिमित ऐश्वर्यशाली बन गया। ३३-३३ पेटियाँ हर रोज़ देव-लोक से उसके आँगन में उतरती थीं।

दान इतना गुप्त होना चाहिये कि इस हाथ से दिये गये दान का बोध दूसरे हाथ को भी न होने पाये। आज का व्यक्ति धन-दौलत को कितना छिपा कर रखता है। कमरे में कमरा, उसमें लोहे की आलमारी। आलमारी के खांचे में खांचा। न मालूम कितना अन्दर गुप्त रूप से धन रखा जाता है। इतना ही नहीं बड़े-बड़े श्रेष्ठी धन की आलमारी के करंट लगा दिया करते हैं कि कोई भी व्यक्ति हाथ नहीं लगा सके। धन के लिये इतनी गोपनीयता रखी जाती है। इससे भी अधिक गोप-नीयता दान के लिये होनी चाहिये। दीन, हीन, अपाहिजों को दिया जाने वाला दान बिना नाम की आकांक्षा के अत्यन्त गुप्त होना चाहिये। जिस प्रकार धन को गुप्त रखा जाता

है तभी वह सुरक्षित रह पाता है। इसी प्रकार प्रदत्त दान को भी इतना गुप्त रखना चाहिये कि दूसरा कोई व्यक्ति यह नहीं जान सके कि यह दानी है। इस प्रकार से गुप्त रखा गया दान ही महान् फलप्रदायी बनता है। □

आम्र भी कभी-कभी मारक बन जाता है।
किंपाक भी कभी-कभी तारक बन जाता है।
शत्रु मित्र की परिधियों को समझो भाइयो,
मित्र भी कभी-कभी संहारक बन जाता है॥

# रूप का आकर्षण

बल्व के प्रकाश से आकर्षित होकर अज्ञानी भंवरा उस पर झंपापात करता है और मूर्छित होकर नीचे गिर जाता है। ज्योंही मूर्छा हटती है पुनः उठता है और बल्ब पर झम्पापात करता है और पुनः मूर्छित होकर गिर पड़ता है, यह क्रम तब तक चलता रहता है जब तक कि उसका प्राणान्त न हो जाय।

ठीक इसी प्रकार विश्व के मोहासक्त मानव की हालत हो रही है। बाह्य रूप रंग को देखकर उसका मन आकर्षित हो उठता है और उसे पाने के लिये वह इतना अधिक प्रयत्नशील हो जाता है कि स्वत्व का भान ही भूल जाता है। किन्तु यह बाह्य आकर्षण भंवरे की भांति ही मानव के लिये महान् हानिकारक सिद्ध होता है। वह दुःखी, उद्विग्न एवं तनाव ग्रस्त बन जाता है।

अन्ततः इसी मोहासक्ति के परिणामस्वरूप वह अंशतः भी वास्तविक सुख को पाये बिना इस अमूल्य मानव देह से विलग हो जाता है। अतीत के ऐतिहासिक पृष्ठों को उलटने पर हमें ज्ञात होगा मोहासक्ति का भयंकर परिणाम।

सीता के रूप से आसक्त हो, रावण उसे ले उड़ा ले गया स्वर्णपुरी लंका में तथा अपने मन में धधक रही महामोह की आग को शान्त करने लगा, किन्तु उसे सफलता प्राप्त नहीं हो पाई। सीता का जीवन उस सर्चलाईट के समान था जिसका बाह्य रूप उज्ज्वल, काँतिमान, चित्ताकर्षक था किन्तु अन्तरंग पातिव्रत एवं शील के तेज से प्रखर सूर्य की भांति जाज्वल्यमान था। लंका में लाने के बाद रावण की हिम्मत नहीं हो पाई उस पर बलात्कार करने की, उसको स्पर्श करने को। अन्ततः उसकी स्वर्णपुरी लंका को जला दिया गया, तहस-नहस कर दिया गया। पारिवारिक सदस्यों के साथ उसको भी अपने जीवन से सदा के लिये हाथ धोना पड़ा। अर्थात् मृत्यु का वरण करना पड़ा। रूप के आकर्षण का प्रभाव ऐसा ही होता है। □

# एकान्तता से हानि और लाभ

एकान्त, योगी की साधना-सिद्धि में सहयोगी होता है तो कामी की वासना एवं आसक्ति को बढ़ानेवाला। चोर के लिये वही एकान्त चोरी करानेवाला बन जाता है।

इसका तात्पर्य यह है कि ज्योंही मानव को एकाँतता, नीरवता मिलती है त्योंही उसकी सुषुप्त वृत्तियाँ जागृत हो उठती हैं। वृत्तियों का ज्वार उभरने लगता है। चोरी करने वाले व्यक्ति की एकान्त में चौर्यवृत्ति जागृत हो उठती है तो कामी व्यक्ति की काम-वासनाएँ प्रदीप्त होने लगती हैं किन्तु उसी नीरवता में योगी की तन्मयता योग-साधना में बढ़ने लगती है। अतः एकान्त मानव के उत्थान में सहायक है तो पतन में भी।

नग्न शरीरी जीव रथनेमि वैताढ्य पर्वत की गहन गुफा में आत्मोत्कर्ष की साधना में तल्लीन थे। किन्तु उसी एकान्तता में जब आर्द्र वस्त्रों से युक्त साध्वी राजीमति ने प्रवेश किया तो उन्हें देखकर रथनेमि की सुषुप्त काम वृत्तियाँ जागृत हो गईं। आत्मोत्थान के जिस पथ पर वे बढ़ रहे थे उनसे उनका मन डाँवाडोल हो गया। साधना का भव्य महल, सुषुप्त वासनाओं के जागृत होने से ढहने लगा। जीवन की ऊँचाइयाँ पतन की ओर गिरने लगीं। वह गहन एकान्त अब उनके लिये आत्म-साधक न बनकर आत्म-बाधक बनने लगा था। किन्तु महान् शौर्य एवं ब्रह्मचर्य के प्रखर तेज से सम्पन्न महासती श्री राजीमति ने उन्हें गिरते-गिरते भी बचा लिया। पतन से उत्थान की ओर अग्रसर कर दिया उन्हें। अब उनके मन से सदा-सदा के लिये कामुक वृत्तियों का प्राणान्त हो चुका था। वे उनसे सर्वथा विलग हो चुकी थीं। अब वह एकान्त उनके लिये निश्चित ही आत्म-साधना और परमात्म-भाव की उपासना का केन्द्र बन गया। तत्पश्चात् रथनेमि शीघ्र ही मुक्तिगामी बन गए।

जब तक आत्मा अन्तरंग की वैभाविक वृत्तियों को दमित/संशोधित नहीं कर लेती, जब तक इन्द्रियों और मन को अपने वश में नहीं कर लेती, तब तक एकान्तता उसके लिये कभी भी साधक नहीं बन पाती ।

प्रभु महावीर ने आत्म-साधना करने वाले सर्वत्यागी साधक के लिये स्पष्ट कहा है कि अनगारी साधक एकाकी विचरण नहीं कर सकता । इस कथन का यही तात्पर्य परिलक्षित होता है कि संभवतः एकाकी विचरण करनेवाले साधक के मन में एकाकी तथा एकान्त रहने पर दबी हुई वैभाविक वृत्तियाँ जागृत होकर उसकी आत्मा पर हावी हो सकती हैं, उसे पतन की ओर धकेल सकती हैं । हाँ, जब साधक अपनी वृत्तियों को वश में कर लेता है, वृत्तियों के आवेग में बहने की कतई संभावना नहीं रहती तब उसके लिये एकान्ततः एकाकीपन भी विधेय बन जाता है ।

आत्मशोधक साधक के लिये सबसे पहले यह आवश्यक है कि वह अपनी वृत्तियों का संशोधन करे । कामुक एवम् काषायिक वृत्तियों को आत्मा से हटाये । साधना को जीवन्त, सरल एवं सात्विक बनाये । वृत्तियों के संशोधित एवं परिष्कृत हो जाने पर हर स्थान, हर क्षेत्र और हर कार्य उसके लिये साधक बन जाता है । अतः एकान्तता लाभदायक है तो हानिकारक भी । □

# युवा शक्ति : : एक दुधारी तलवार

अग्नि एक ऐसी शक्ति है कि जिसका सदुपयोग भी हो सकता है तो दुरुपयोग भी । जिस अणु बम से शत्रुओं का विनाश किया जा सकता है उसी अणुबम से अपने आप का भी संहार किया जा सकता है । वाहन का व्यवस्थित संचालन व्यक्ति को लक्ष्य की ओर ले जा सकता है तो वही वाहन अनियंत्रित रूप से चलने पर उसके लिये घातक भी बन जाता है । ठीक इसी प्रकार युवाशक्ति भी एक ऐसी दुधारी तलवार है कि जिसका व्यवस्थित रूप में प्रयोग करने पर समाज में रचनात्मक कार्य उपस्थित कर सकती है, समाज में व्याप्त कुरीतियों, कुरूढ़ियों एवं गलत परंपराओं को हटाकर उसे स्वस्थ्य निर्देशन दे सकती है । और यदि युवाशक्ति का असंतुलित रूप में प्रयोग प्रारंभ होता है तो वह ग्राम या देश तो क्या पूरे विश्व को विनाश के कगार पर ला खड़ा करती है ।

वर्तमान युग में विस्तीर्ण घोर विषमता, अनैतिकता, अराजकता एवं हिंसा का नग्न नृत्य युवाशक्ति के दुरुपयोग का परिणाम भी कहा जा सकता है । हर युवा में एक नया जोश होता है जो कुछ न कुछ कर गुजरने के लिये उद्वेलित होता रहता है । यदि इस जोश के प्रवाह को सही दिशा में संयोजित नहीं किया जाय, तो वह सर्जनात्मक कार्य के स्थान पर विध्वंस का रूप उपस्थित कर देता है । जिस प्रकार पानी के उमड़ते हुए प्रवाह को सही दिशा नहीं मिलने पर बड़ी-बड़ी चट्टानों को तोड़कर वह प्रलय का भयंकर रूप उपस्थित कर सकता है ।

वर्तमान युग के युवकों का युवा स्वरूप सर्जन के स्थान पर विनाश की ओर अधिकाधिक बढ़ता प्रतीत हो रहा है । आज देश में सर्वत्र अराजकता, अनैतिकता, निष्क्रियता और क्रियाशिथिलता का बोलबाला है । [illegible] की इन विषम समस्याओं को देखते हुए लगता है यह निश्चित

करने के लिये विवश हो रहा है कि आने वाली पीढ़ी में शीघ्रता से यदि सर्जनात्मक क्रान्ति नहीं हुई तो देश का भविष्य अंधकारमय हो जायेगा।

आज देश के हर विचारक, चिन्तक, दार्शनिक, योगी एवं साधक के लिये यह सोचना आवश्यक हो गया है कि वह देश की इन विषम समस्याओं को कैसे सुलझाए।

हर शक्तिशाली पुरुष का यह आवश्यक कर्त्तव्य हो गया है कि वह अपनी शक्ति का सदुपयोग देश की बिगड़ी हुई स्थिति को सुधारने में नियोजित करे। हर वृद्ध में इस प्रकार का रूपान्तरण होना चाहिये कि वह देश की नींव को मजबूत करने के लिये अपने अनुभवों का व्यावहारिक रूप उपस्थित करे। हर युवा को चाहिये कि वह उमड़ते हुए यौवनत्व के प्रवाह को देश सेवा की ओर गतिशील करे।

युवा और वृद्ध का समन्वित सहयोग ही समाज एवं देश में एक सात्विक क्रान्ति ला सकता है। किन्तु जब युवा शक्ति का वृद्धों के अनुभव के साथ योग्य समन्वय नहीं होता तब समाज एवं देश विघटित होता हुआ शक्ति के संतुलन को खो बैठता है।

यह सत्य है :—

"हर युवा में नया जोश होता है,
हर वृद्ध में एक नया होश होता है।
जोश और होश जब मिल नहीं पाते,
तब बहुत बड़ा अफसोस होता है।।

युवा शक्ति एक दुधारी तलवार है।
जिधर चाहो उधर होता वार है।
स्वस्थ निर्देशन नहीं होगा जब तक,
घातक परिणामों का ही विस्तार है।।"। □

# भय क्यों लगता है ?

विश्व का प्रायः मानव किसी न किसी प्रकार के भय से संत्रस्त है। इस संत्रस्तता को देखते हुए मन में विचार आता है कि आत्मा का मौलिक स्वरूप तो निर्भयता है, फिर प्राणी भयभीत क्यों होता है ?

प्रश्न का समाधान खोजने ज्योंही मन यथार्थ ज्ञान की ओर गतिशील होता है, त्योंही वस्तुस्थिति स्पष्ट होती चली जाती है। किसी भी प्राणी या मानव को आत्म-सापेक्ष होने पर कोई डर नहीं होता, क्योंकि आत्मा तो अजर-अमर है, उसका त्रिकाल में भी विनाश नहीं होता। गीता में कहा गया है :

"नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः,
न चैनं क्लेदयन्त्यापो, न शोषयति मारुतः ॥"

अतः आत्म-विधान की दृष्टि से प्राणी को किसी प्रकार का भय नहीं हो सकता। किन्तु वह आत्मा कर्मों से आबद्ध होने के कारण शरीर से भी आबद्ध रहती है। ऐसी आत्माएँ भौतिक तत्त्वों से भी जकड़ी रहती हैं। इसी जकड़न में वह अपने मौलिक स्वरूप से विस्मृत होती हुई वैभाविक तत्त्वों को अपना मान बैठती है। उन तत्त्वों के संरक्षण-संवर्धन आदि कार्यों में अपनी बहुमूल्य ऊर्जा का अपव्यय कर देती है।

इन वैभाविक तत्त्वों के साथ अभिन्नता रखने के कारण ही प्राणीवर्ग में भय की उत्पत्ति होती है। जितने-जितने अंशों में वैभाविक तत्त्वों से प्राणी अपने को भिन्न करता है, उतने-उतने अंशों में वह निर्भीक बनता जाता है। जो कुछ भी भय की स्थिति बनती है, वह सब वैभाविक तत्त्वों के संयोग से ही बनती है। यह धन मेरा है, इसे कोई चुरा न ले। इसके लिए वह चोर, तस्कर आदि अपहरण-कर्त्ताओं से भयभीत रहता है। इन्कमटैक्स की चोरी करनेवाला

'चेकिंग इन्सपेक्टर' से भयभीत रहता है। परिवार पर ममत्व रखनेवाला उन पारिवारिक सदस्यों पर आनेवाले कष्टों की संभावना मात्र से भयभीत हो उठता है। अपने शरीर पर आसक्त रहने वाला अपने शरीर के संरक्षण के लिये सदा तत्पर रहता है। हिंसक पशुओं एवं शत्रुओं से सदा भयभीत बना रहता है। यही नहीं रात्रि के अंधेरे में भी उसे शरीर के नष्ट होने के भय से काल्पनिक भूत-पिशाच भी दीखने लगते हैं। एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने की उसकी हिम्मत नहीं होती। अंधेरे में थोड़ी-सी खड़-खड़ की आवाज भी उसके शरीर को कंपानेवाली बन जाती है। यह सारा भय आत्मा के कारण नहीं अपितु बाहरी तत्वों के कारण प्रादुर्भूत होता है। जब वह बाहरी तत्वों से अपना संबंध हटा देता है तो वह निर्भय बन जाता है। जिस व्यक्ति ने धन-दौलत से अपना संबंध हटा लिया, तो वह व्यक्ति तत्संबंधी भय से मुक्त हो जायेगा। जिसने परिवार से अपना संबंध हटा लिया, वह पारिवारिक भय से मुक्त हो जायेगा।

जिस प्रकार आत्म-साधना करनेवाला साधक निर्भीक रहता है, उसे किसी का डर/भय नहीं रहता। क्योंकि वह वैभाविक तत्वों से अपने संबंध को हटा लेता है। जिसके पास धन है ही नहीं, चोर उचक्कों से उसे क्या डर है? इसी प्रकार जो प्राणी अन्तर्दिल से यह तथ्य जान लेता है कि आत्मा अलग है, शरीर अलग है। शरीर के कटने से आत्मा नहीं कटती, शरीर के छिदने से आत्मा नहीं छिदती। शरीर के मरने से आत्मा नहीं मरती। शरीर के जलने से आत्मा नहीं जलती। आत्मा अजर-अमर है, उसका कभी विनाश नहीं होता। उसे कभी भी भय हो ही नहीं सकता।

ऐसा विश्वास रखनेवाला साधक मृत्यु से भी भयभीत नहीं होता। हिंसक पशुओं के बीच या शत्रुओं के मध्य में भी वह निर्भीक बनकर रहता है।

अतः यह स्पष्ट है कि भय की उत्पत्ति आत्मा के कारण नहीं वरन् शरीर के वैभाविक तत्वों से होती है। निर्भय बनने के लिये वैभाविक तत्वों से संबंध हटाना होगा। □

# अहिंसा का व्यापक प्रभाव

"सव्वेसिं जीवियं पियं" संसार के समस्त प्राणियों को जीवन प्रिय है। सभी प्राणी जीना चाहते हैं। मरना कोई नहीं चाहता, चाहे वह किसी भी स्थिति या परिस्थिति में हो। यहीं पर वीतराग देव द्वारा प्ररूपित अहिंसा का व्यापक रूप निखरने लगता है। वीतराग प्रभु ने 'एगे आया' के सूत्र द्वारा समस्त जीवों पर आत्मीय भाव रखने की बात कही है। जिस अहिंसक साधक के मन में ही नहीं, रग-रग में जब समस्त प्राणी वर्ग के प्रति आत्मीय भावना जागृत हो जाती है। उसके विचार, उच्चार एवं आचार समस्त प्राणियों के लिये अहिंसक बन जाते हैं, तब वह पूर्ण निर्भय एवं निडर बन जाता है। ऐसे अहिंसक व्यक्ति का प्रभाव मानव पर ही नहीं चराचर जगत् के समस्त प्राणी वर्ग पर पड़ता है।

इस चौबीसी के अन्तिम तीर्थंकर प्रभु महावीर के समवसरण में जन्मजात शत्रु सर्प और नेवला, हरिण और शेर भी मित्रता के साथ रहते थे। प्रभु महावीर के समवसरण में ही नहीं समस्त तीर्थंकरों के समवसरण में परस्पर शत्रुता का भाव रखने वाले हिंसक पशु भी मित्रता के साथ रहते थे। यह तीर्थंकर भगवान् का अतिशय तो है ही साथ ही उनके रग-रग में, रोम-रोम में व्याप्त अहिंसक भावनाओं का व्यापक प्रभाव भी है।

अहिंसक भावना को लेकर चलनेवाले व्यक्ति का आत्मसंबलनक प्रभाव वायुमण्डल पर पड़े बिना भी नहीं रहता। आत्मीय व्यवहार करनेवाले व्यक्ति का शत्रु भी मित्र बन जाता है, क्योंकि अहिंसक विचार प्रत्येक आत्मा का मूल गुण है। विश्व की कोई भी आत्मा ऐसी नहीं है जो अपना रक्षण नहीं चाहती हो। जब सभी आत्माएँ अपना-अपना रक्षण चाहती हैं, तो किसी भी आत्मा को यह अधिकार नहीं रह जाता कि वह दूसरे का भक्षण करे।

स्व और पर दोनों के प्रति आत्मीय भाव होना ही, अहिंसा की परम साधना एवं चरम आराधना है। अहिंसक भावनाओं के परोक्ष प्रभाव तो आश्चर्यजनक होते ही हैं, किन्तु प्रत्यक्ष प्रभाव भी कम आश्चर्योत्पादक नहीं होते।

संत फ्रांसिस की घटना विश्रुत है। जब वे किसी तालाब या सरोवर के किनारे पहुँच जाते, तो उनकी अहिंसक भावनाओं का एक जादुई असर होता। पानी में रहनेवाली सारी की सारी मछलियाँ जिस दिशा में संत फ्रांसिस खड़े होते, उसी दिशा तट पर एकत्रित हो जातीं। यही नहीं उनके पास जाने एवं उन्हें देखने के लिये छलाँग भी लगाने लगतीं। इसी प्रकार जब वे जंगल में किसी वृक्ष के नीचे बैठे होते तो जंगल के जितने भी पक्षी होते, सभी उसी वृक्ष पर एकत्रित होने लगते, इसी के साथ वे उनके शरीर पर, गोद में, कंधों आदि अंगों पर बैठने लगते।

इन आश्चर्यजनक घटनाओं के विषय में किसी सुज्ञ व्यक्ति ने संत फ्रांसिस से पूछा--इनका क्या कारण है? तब उन्होंने बताया कि इसका उन्हें केवल एक ही कारण लगता है, वह यह है कि इन सभी पक्षियों को यह अच्छी तरह मालूम है कि इस व्यक्ति से हमें किसी प्रकार की हानि एवं कष्ट होनेवाला नहीं है। जिस प्रकार एक मित्र दूसरे मित्र से प्रेमपूर्वक मिलता है, उसी प्रकार इन पक्षियों के साथ आत्मीयता होने से सहज ही पास में चले आते हैं।

ऐसी ही एक घटना है अपने पूर्वाचार्य विजेता आचार्य श्री श्रीलालजी म. सा. के जीवन की। जब उनका वर्षावास कानोड गाँव में था तब जिस कमरे में आचार्य प्रवर स्वाध्याय चिन्तन, मनन, प्रतिक्रमण आदि कार्यक्रम करते थे, उसी कमरे में एक विषधर सर्प कुंडली मारे बैठा रहता था। यदा-कदा उसी कमरे में इधर-उधर घूमता भी रहता था। रात्रि में मुनिवरों के द्वारा धरती का प्रमार्जन करते हुए चलने से कभी रजोहरण का स्पर्श भी हो जाता तो वह उसे सुखद महसूस होता था। पूरा वर्षावास उसने पूज्य श्री के सान्निध्य में बिताया। कभी भी कोई हिंसात्मक घटना नहीं घटी। यह था

अहिंसा का व्यापक प्रभाव तथा अहिंसक व्यक्तियों का जादुई असर।

विश्व की किसी भी आत्मा में जब समस्त प्राणी वर्ग के प्रति आत्मीय भाव जागृत हो जाता है, तो उसका परोक्ष प्रभाव सभी आत्माओं पर होता ही है। □

बिना दया कोई इन्सान नहीं होता।
बिना तंतु कोई परिधान नहीं होता।
आदर्शवादिता का नारा लगानेवालो,
बिना परोपकार कोई महान् नहीं होता।

# उपलब्धि का रहस्य : : धैर्य

किसी भी कार्य की संपूर्ति तक पहुँचने के लिये आत्म-विश्वास का होना आवश्यक है। हर व्यक्ति किसी न किसी कार्य का प्रारंभ तो कर लेता है, किन्तु कार्य की संपूर्ति होने से पहले ही वह फल की आकांक्षा के लिये अधीर हो उठता है। यह अधीरता इतनी तीव्रता के साथ बढ़ जाती है कि फल की प्राप्ति तक पहुँचते-पहुँचते ही व्यक्ति उनसे वंचित रह जाता है। उसके द्वारा किया गया सारा का सारा परिश्रम व्यर्थ चला जाता है। साहस के साथ समुद्र के तट तक पहुँचनेवाला व्यक्ति यदि पल-मात्र के लिये भी साहस, आत्म-विश्वास को खो बैठता है तो उस विशाल जलधि को पारकर किनारे पहुँचने-वाला, उसी में समाहित हो जाता है।

आत्म-विश्वास रहित एक कृषक खेती को सींचने के लिये कुँआ खोदने लगा। दस फुट तक कुआँ खोदा फिर भी उसमें पानी नहीं निकला, तो वह अपने विश्वास एवं धैर्य को खो बैठा। सोचा इस स्थान पर पानी नहीं निकलता है तो अब दूसरे स्थान पर कुआँ खोदना चाहिये। कुछ ही दूर, दूसरे स्थान पर कुआँ खोदने लगा। लग-भग २० फुट कुंआँ खोदा होगा तब भी पानी का स्रोत नहीं फूटा। कृषक का धैर्य पुनः टूट गया। वहाँ से हटकर तीसरे स्थान पर फिर खड्डा खोदा तो वहाँ पर भी पानी नहीं निकला। इसी प्रकार चौथे स्थान पर भी खड्डा खोदने पर पानी नहीं निकला तो वह अधीर हो उठा और निराश होकर अपना कार्य स्थगित कर दिया। इतना परिश्रम करने पर भी फल की प्राप्ति नहीं कर सका, इसका एक ही कारण था—धैर्य का अभाव। यदि उसने जितना परिश्रम चार स्थानों पर किया उतना ही परिश्रम एक स्थान पर किया होता, तो निश्चित ही उसे परिश्रम का फल मिल जाता। यह तो एक व्याव-हारिक स्तर की बात हुई।

आध्यात्मिक स्तर पर साधना करने वाले साधक के लिये तो धैर्य का होना नितान्त आवश्यक है। अधीर होनेवाला साधक कभी भी अभीष्ट फल प्राप्त नहीं कर सकता।

आगमिक पृष्ठों पर यही बात एक रूपक के द्वारा बतलाई गई है। मयूरनी के दो अण्डों को, इस विश्वास से कि इनमें से मयूर निकलेगा—दो मित्र लेकर अपने-अपने घर पहुँचे। एक मित्र ने उसे सुरक्षित स्थान पर रख दिया तथा धैर्य के साथ मयूर निकलने की प्रतीक्षा करने लगा। दूसरे मित्र ने अण्डे को सुरक्षित स्थान पर तो रख दिया, किन्तु प्रतिदिन उसे हाथ में उठाकर देखता कि अण्डे से मयूर बाहर निकल रहा है या नहीं। कुछ दिन बीतने पर पहलेवाले मित्र को अण्डे से मयूर प्राप्त हुआ जबकि दूसरे को अधैर्य के परिणामस्वरूप निराशा ही हाथ लगी।

अतः साधक को धैर्य के आलम्ब पर अविचल श्रद्धा रखनी चाहिये।

❑

# सुख कहाँ ?

विश्व का प्रत्येक मानव चिरन्तन काल से सुखप्राप्ति की दिशा में अहर्निश प्रयत्नशील है। वह अपनी इच्छाओं की संपूर्ति में ही सुख समझ रहा है। और उसी इच्छापूर्ति के लिये जुटा हुआ है। आश्चर्य कि इतना प्रयास करने पर भी सुख की प्राप्ति नहीं कर पाया है। ज्यों-ज्यों वह अपनी इच्छाओं को पूर्ण करता जाता है, त्यों-त्यों इच्छाएँ किंवा कामनाएँ शतगुणित रूप से वढ़ती चली जाती हैं, जिनकी संपूर्ति करना दुःसाध्य नहीं तो असंभव अवश्य है। इसीलिये भगवान महावीर ने स्पष्ट निर्देश दिया——

'इच्छा हु आगाससमा अणंतिया'——इच्छाएँ आकाश के समान अनन्त हैं। अनन्तता की इति कभी हो ही नहीं सकती। इसीलिए आज का मानव सुख-प्राप्ति के स्थान पर अधिक दुःखित और उत्पीड़ित बनता चला जा रहा है।

सच तो यह है कि मानव की इच्छाओं की संपूर्ति जितनी अधिक होती है, उतना ही अधिक वह दुःखी बनता है। जुआरी, जब जुआ खेलने लगता है, तब ज्यों-ज्यों उसको लाभ की प्राप्ति होती जाती है, त्यों-त्यों उसका लोभ बढ़ता जाता है। दस रुपये से बीस रुपये की प्राप्ति हुई तो इच्छा २० से ४० रुपये प्राप्त करने की बन जाती है। ४० रुपये की प्राप्ति होते-होते उसकी इच्छा चतुर्गुणित रूप से बढ़ने लगती है। और बढ़ते-बढ़ते वह इस सीमा तक पहुँच जाती है कि प्रतिपक्षी का समस्त धन जीतना चाहता है। पर होता प्रायः उससे विपरीत ही है। एक बाजी ऐसी आती है कि वह सारा का सारा धन हार जाता है और हाथ मलते ही रह जाता है। यह परिणाम इच्छाओं पर नियंत्रण न रख पाने के कारण ही होता है। जब तक मानव की प्रवृत्ति इच्छाओं की संपूर्ति के लिये गतिशील रहेगी, तब तक वह सुख की प्राप्ति नहीं कर सकता। सुख वास्तव में

इच्छाओं की संपूर्ति में नहीं, बल्कि उनकी समाप्ति में है। इच्छाओं के स्रोत को सींचने से नहीं अपितु उस स्रोत को सुखाने से ही शांति की प्राप्ति हो सकती है। प्राणवायु (आक्सीजन) को पाने के लिये दूषित वायुमण्डल को हटाना अनिवार्य है। बिना दूषित वायु को हटाए शुद्ध हवा प्राप्त नहीं हो सकती। ठीक इसी प्रकार इच्छाओं के दूषित वायुमण्डल को हटाए बिना सुख रूपी शुद्ध हवा आत्मा को प्राप्त नहीं हो सकती। आज मानव इच्छाओं की समाप्ति न कर उसकी संपूर्ति करने के लिये प्रयत्नशील होने से ही सुख की प्राप्ति नहीं कर पा रहा है।

एक बार गौतम बुद्ध की पाटलीपुत्र में संयोजित सभा के बीच बुद्ध के एक प्रिय शिष्य ने प्रश्न कर लिया—भगवन्! इतनी विशाल सभा में सबसे अधिक सुखी कौन है?

गौतम बुद्ध के लोचन एकबारगी सारी सभा में घूम गए। सम्राट्, मंत्री, सेनापति, श्रेष्ठि आदि नागरिकों पर से हटती हुई उनकी दृष्टि दूर बैठे एक फटेहाल व्यक्ति पर केन्द्रित हो गई। वे बोले—आनन्द! इस विशाल सभा में सर्वाधिक सुखी सभा के अन्त में बैठा वह फटेहाल व्यक्ति है।

प्रश्न के उत्तर को सुनकर, आनन्द के साथ सारी सभा विस्मित हो गई।

आनन्द बोला—भगवन् आपके समाधान ने सारी सभा को आश्चर्य चकित कर दिया। कृपया स्पष्ट रूप में समाधान प्रदान करें।

इस पर गौतम बुद्ध ने सम्राट् से पूछा—राजन्! तुम्हें क्या चाहिये?

सम्राट ने कहा—भगवन्! मुझे राज्य विस्तार के लिये कोष में अभिवृद्धि, सैनिक, शस्त्र आदि बहुत-सी वस्तुएं चाहिये। मंत्री, सेनापति से पूछा तो उन्होंने भी अपनी-अपनी अभिलषित वस्तुओं को पाने की इच्छा अभिव्यक्त की। नागरिकों को पूछने पर भी विविध वस्तुओं की मांगें सामने आईं। इन सबको पूछने के अनन्तर

गौतम बुद्ध ने उस फटेहाल व्यक्ति से पूछा--बंधुवर, तुम्हें क्या चाहिये ? उसने कहा—भगवन् मुझे कुछ नहीं चाहिये। किसी भी वस्तु की आवश्यकता नहीं है, तथापि आपने पूछ लिया है तो मैं भी एक माँग आपसे कर लेता हूँ। गौतम बुद्ध ने कहा--बोलो, तुम्हें क्या चाहिये ? भगवन्! मुझे यही चाहिये कि मेरे मन में किसी प्रकार की चाह/इच्छा पैदा ही न हो। बस मैं यही चाहता हूँ।

उसकी इस माँग को सुनकर गौतम बुद्ध ने गंभीरता के साथ सारी सभा को संबोधित किया—सुज्ञ भाइयो और प्रिय आनन्द! देखा, तुम सभी ने अपनी-अपनी माँगें रखीं, किन्तु फटेहाल दीखनेवाले इस व्यक्ति ने क्या माँग रखी ? वास्तव में जहाँ इच्छा है, चाह है, वहाँ कभी भी सुख की स्थिति नहीं बन सकती। सुख पाने के लिये इच्छा को ही समाप्त करना होगा। इच्छाओं की समाप्ति पर ही सुख का महा स्रोत फूट पड़ेगा। □

# विसर्जन से सर्जन

भव्य प्रासाद को बनाने के लिये पूर्व स्थित खंडहर को गिराना होगा। जब तक खंडहर का सर्वथा विनाश नहीं होगा, तब तक भव्य महल का निर्माण नहीं हो सकेगा। ठीक यह बात जीवन की सर्जना के विषय में है। भव्य जीवन का निर्माण करने के लिये पूर्व विकृतियों को बिल्कुल साफ करना होगा। जब तक ऐन्द्रिक व मानसिक विकृतियाँ साफ नहीं हो जातीं, तब तक भव्य जीवन की सर्जना भी नहीं हो सकती।

बिना गन्दगी को साफ किये कमरे को सजाया नहीं जा सकता। सजावट के लिये गंदगी को हटाना आवश्यक है। जीवनोत्कर्ष के लिये भी राग-द्वेष की गंदगी को हटाना ही होगा। वर्तमान युग में दृश्यमान जगत का मानव प्रायः राग-द्वेष की गंदगी से भरा हुआ है। वह उस गंदगी को हटाये बिना ही ऊपरी टिमटाम से अर्थात् भौतिक समृद्धि से अपने जीवन को सजाने का प्रयास कर रहा है। किन्तु यह सजावट किंवा सर्जना वास्तविक नहीं होने से सुख शांति का कारण नहीं बन पा रही है। □

# संघ एवं संघनायक

किसी भी कार्य को अच्छी तरह संपन्न करने के लिये व्यवस्थित कार्य प्रणाली का होना आवश्यक है। छोटे से छोटे कार्य को भी व्यवस्थित कार्य प्रणाली के विना अच्छी तरह से संपन्न नहीं किया जा सकता। उदाहरणार्थ—रोटी पकाना एक कार्य है। रोटी बनाने की एक व्यवस्थित कार्य प्रणाली है। गेहूँ को पहले पीसकर आटा बनाना होता है। आटे में यथायोग्य पानी डालकर गूँथना होता है। तदनन्तर उस गूंथे हुए लोंदे के लोये बनाकर उसे बेलकर अग्नि पर सेंकना होता है। यह रोटी बनाने की संक्षिप्त कार्य प्रणाली है। सारी विधि व्यवस्थित रूप से संपन्न होने पर ही रोटी तैयार हो सकती है। इसी प्रकार आत्मा के उन्नयन एवं विकास के लिये व्यवस्थित कार्य प्रणाली के अनुसार चलना अपेक्षित है। चरम तीर्थंकर श्रमण भगवन् महावीर स्वामी ने भव्य आत्माओं के आध्यात्मिक विकास हेतु तीर्थ की स्थापना की। चार प्रकार के तीर्थ प्रज्ञप्त किये—(१) साधु (२) साध्वी (३) श्रावक और (४) श्राविका। तीर्थ का ही उपनाम नाम संघ है। प्रभु ने चतुर्विध संघ की स्थापना के साथ ही स्व-स्व योग्य आध्यात्मिक विकास की भव्य व्यवस्था भी प्रतिपादित की। इस संघ का संचालन स्वयं श्रमण भ० महावीर करते रहे, तदनन्तर तृतीय पद के अधिकारी आचार्य भगवंतों ने उसके संचालन का काम संभाल कर संघ की परंपरा को अविच्छिन्न रखा।

आत्म-साधना के जिज्ञासु साधक हेतु ऐसी सुविशुद्ध परंपरा में रहकर आत्मा का विकास करते हुए परमात्मा को जागृत करने के लिये संघनायक के अनुशासन का पालन अनिवार्य है। जो साधक अपने स्वच्छन्द विचारों से संघनायक की उपेक्षा करता है, व्यवस्थित कार्य प्रणाली के अनुसार नहीं चलता है, वह साधक कभी भी परमात्म-भाव का वरण नहीं कर सकता। वर्षा में असंख्य पानी की बूंदें गिरती

है, किन्तु मोती बनने का सौभाग्य सभी बूंदों को नहीं मिलता। सीप के मुंह में पड़ा बूंद ही चमचमाता मोती बन सकता है। ठीक इसी प्रकार सभी साधक परम लक्ष्य का वरण नहीं कर पाते। किन्तु जो साधक संघ की मर्यादाओं में रह कर साधना पथ पर आगे बढ़ता है, वह सीप के मुंह में गिरे बूंद के समान चमकदार मोती के रूप में शाश्वत रूप से परमात्म-भाव को जागृत कर लेता है।

हरे-हरे पत्तों पर स्थित बूंद की मोती के समान चमक तभी तक रहती है, जब तक कि वह उस पर स्थित है। ज्योंही पत्ते को छोड़कर बूंद नीचे गिरता है, त्योंही उसका जीवन मिट्टी में मिलकर समाप्त हो जाता है। साधक जीवन का महत्त्व भी तभी तक रहता है, जब तक कि वह संघ में रहकर संघ नायक के निर्देशों के अनुसार चलता हुआ संयमीय मर्यादाओं का अक्षुण्ण रूप से पालन करता है। जब साधक के मन में यह भावना जागृत हो जाती है कि संघ की मर्यादा एवं संघनायक के निर्देशों का पालन उसके लिये एक बंधन है। वह तो स्वतंत्र (स्वतंत्र से प्रकरण संगत तात्पर्य स्वच्छंद) रहकर अपना अनूठा प्रभाव जमा सकता है। यह सोचकर जो साधक संघ—मर्यादाओं एवं संघनायक के निर्देशों की उपेक्षा कर देता है, स्वच्छंद विचरण करने लग जाता है उस साधक की दशा उस पानी की बूंद के समान बनती है, जो हरे पत्ते से हटकर भी अपना चमकदार व्यक्तित्व रखना चाहती है। जिस प्रकार वह बूंद मिट्टी में मिलकर नष्ट हो जाती है। उसी प्रकार संघ मर्यादा एवं संघनायक के निर्देशों की उपेक्षा करने वाला साधक भी अपनी आत्मा का अधःपतन कर लेता है।

अतः जीवन के उत्थान एवं विकास के लिये संघ एवं संघनायक के आगमानुकूल निर्देशों पर चलना आवश्यक है। यह कोई बन्धन नहीं अपितु उत्थान मुक्ति-सुख की प्राप्ति का एक सुगम पथ है। जिस प्रकार राजमार्ग पर इसलिये चला जाता है कि वह व्यक्ति को गन्तव्य स्थान पर पहुंचा देगा। [illegible] मार्ग में [illegible] पर चलने वाले के लिये यह बन्धन रूप नहीं बन जाती। [illegible] [illegible] से [illegible] व्यक्ति को [illegible] पर पहुँचाने में सहायक

बनती हैं। इसी प्रकार साधक के लिये भी संघ एवं संघनायक के निर्देशों का पालन भी एक ऐसा पथ है, जिस पर चलकर साधक आत्मा के चरम लक्ष्य—मुक्ति सुख का सहज रूप से वरण कर सकता है। एतदर्थ संघ मर्यादा एवं संघ निर्देशों का पालन जीवन-निर्माण को अचल नींव है। □

घेराव ही पशुओं के लिये बन्धन है।
उसी से ही होता बहुत क्रन्दन है।
स्वार्थ में जूझनेवाला यह मानव,
अपने ही लिये सजा रहा बन्धन है।।

# सुषुप्त शक्ति को जगाएँ

एक छोटे से परमाणु में महा विस्फोटक शक्ति होती है। एक छोटे से बीज में विराट् वृक्ष की विशालता समाहित है। ठीक इसी प्रकार छोटे-से-छोटे शरीर में रहने वाली आत्मा में भी अनन्त-अनन्त शक्ति सन्निहित है, किन्तु उस विशाल शक्ति पर कर्म का घना आवरण छाया हुआ है। जब तक यह आवरण नहीं हटेगा, तब तक विशाल शक्ति का प्रकटीकरण नहीं हो सकता।

बीज की विराट् शक्ति को प्रादुर्भूत करने के लिये उसे व्यवस्थित रीति से भूमि में वपित करना आवश्यक है। तदनन्तर योग्य हवा, पानी से सींचन, संरक्षण आदि की भी महती आवश्यकता रहती है। इतना होने पर ही छोटा-सा बीज विराट् वृक्ष का रूप ले सकता है। आत्मिक शक्ति को जागृत करने के लिये भी योग्य पुरुषार्थ की आवश्यकता है। अनन्त-अनन्त आत्माएँ विभिन्न योनियों में परिभ्रमण कर रही हैं। कर्म का बन्धन उन्हें हिताहित के विवेक विज्ञान से विकल बनाये हुए हैं। विवेक विज्ञान को पाने हेतु बीज के लिये योग्य भूमि की आवश्यकतानुसार मानव जीवन की आवश्यकता है। जिसको पाकर आत्मा स्व के हिताहित के ज्ञान की प्राप्ति के साथ ही हित में प्रवृत्ति और अहित से निवृत्ति ले सकती है। प्रभु महावीर ने आत्मा का परिपूर्ण जागरण करने के लिये मानव जीवन की अनिवार्य आवश्यकता बतलाई है। मानव जीवन में सत्पुरुषार्थ करके चेतन-आत्मा अपने विराट् रूप को जागृत कर सकती है।

जो आत्मा [illegible] [illegible] के शरीर में विद्यमान है, उस आत्मा में भी अनन्त शक्ति एवं विराट् स्वरूप समाहित है। इस संकुचित शरीर में विद्यमान आत्मा भी विराट [illegible] [illegible] (केवलि) [illegible] [illegible] लोक में अपने आत्म-प्रदेशों को [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

प्रसारित कर सके। सिद्धान्त के अनुसार केवली समुद्घात का चौथा समय ऐसा आता है जिसमें आत्मा संपूर्ण लोक के कोने-कोने में अपने आत्म प्रदेशों का विस्तार कर देती है। यह विराट् शक्ति विश्व की प्रत्येक आत्मा में विद्यमान है, किन्तु जब तक प्राणी, चेतना शक्ति का ज्ञान प्राप्त नहीं करेगा, उसे विकसित करने के लिये सत्पुरुषार्थ शील नहीं बनेगा, तब तक वह उसके विराट् स्वरूप का दर्शन नहीं कर सकता। उस विराट् स्वरूप के दर्शन के लिए जिज्ञासुओं को चाहिये कि अपने सुषुप्त पुरुषार्थ को जगाएँ और निराबाध रूप से निरन्तर योग्य दिशा में प्रगतिशील बनें। □

# बच्चे : मनोहारी क्यों ?

कच्ची उम्र के छोटे-छोटे बच्चे बहुत मनोहर लगते हैं। वे बच्चे चाहे मानव के हों या पशु के बहुत रमणीय होते हैं। नौनिहाल बच्चों की यह रमणीयता स्वाभाविक होती है। वे ही बच्चे जब बड़े हो जाते हैं, तो उनकी रमणीयता कहाँ खो जाती है ?

विचारों की गहराई में पैठने पर प्रश्न का समाधान उभर आता है। बच्चों का जीवन पवित्र एवं निष्कपट होता है। जो मन में होता है वही वचन में और वही आचरण में भी होता है। यह अन्तर की स्वाभाविक स्थिति रमणीयता के रूप में प्रस्फुटित होती है। किन्तु ज्यों-ज्यों बच्चा बड़ा होता जाता है, त्यों-त्यों उसमें विकृतियाँ प्रवेश करती जाती हैं। वे विकृतियाँ उसके बाहरी जीवन को भी विकृत बना डालती हैं। अन्तर के जीवन का प्रभाव बाहरी जीवन पर अवश्यमेव पड़ता है। कोई व्यक्ति शैतान या क्रूर कर्मी है तो उसके अन्तरंग जीवन का प्रभाव बाहर के जीवन पर अवश्य परिलक्षित होता है। जिसके अन्दर अहिंसक भावना होगी तो उसकी आन्तरिक भावनाओं का प्रभाव भी चेहरे पर आयेगा ही। व्यवहार में भी ऐसा देखा जाता है कि दुष्ट व्यक्ति की भृकुटी तनी रहती है, आँखें लाल रहती हैं, चेहरा बीभत्स दीखता है, किन्तु योगी के चेहरे को देखा जाय तो लगेगा कि वह शांत और प्रशांत है। मुद्रा बहुत सौम्य है। नेत्रों से मानो अमृत-झर रहा है। उनके दर्शन मात्र से ही लोगों में एक अलौकिक शांति की अनुभूति होती है। यह सब अन्तरंग जीवन का प्रभाव है।

बच्चों का प्रारंभिक जीवन छल-कपट, झूठ-प्रपंच, अन्याय-अनीति आदि से कोसों दूर होता है इसीलिये उनका जीवन बहुत रमणीय लगता है। नौनिहाल बच्चों का यह जीवन चिन्तन को एक नई दिशा देता है। उनमें कैसी अद्भुत रमणीयता होती है, कितनी प्रसन्नता होती है। चेहरा सदा खिला रहता है। यह सब बाहरी

विकृतियों के अभाव का ही परिणाम है। यदि जीवन में प्रसन्नता की अनुभूति करना है तो अन्तर के जीवन को बच्चों की तरह ही बनाना होगा। जितनी सरलता, प्रसन्नता मन में रहेगी, उतना ही जीवन खुशी से भरा रहेगा। आज का मानव दुःखी और तनावग्रस्त इसीलिये बन रहा है कि वह बड़े होने के साथ ही वैभाविक स्थितियों में प्रवेश करता जा रहा है। इन वैभाविक स्थितियों का प्रवेश ही उसके अन्तरंग एवं बाहरी जीवन को क्षत-विक्षत बना रहा है। अतः स्पष्ट है कि बच्चों की प्रसन्नता, एवं रमणीयता उनके अन्तर-बाहर के निष्कपट जीवन का ही परिणाम है। □

सुगंध के बिना फूल किसी काम का नहीं होता।<br>
प्रकाश के बिना दीपक किसी काम का नहीं होता॥<br>
कैसा भी युग आ जाय मेरे दोस्तो,<br>
साधना के बिना साधक किसी काम का नहीं होता॥

# अनन्त शक्ति का स्रोत कहाँ?

प्रसिद्ध दार्शनिक इमसन का कहना है, "मैं समस्त भू-मण्डल, सप्त नक्षत्रों और सीजर के बाहुबल (रोम के बली राजा) प्लेटो के मस्तिष्क, महात्मा ईसा के हृदय और शेक्सपीयर के कवित्व का स्वामी हूँ।"

दार्शनिक इमर्सन के इस कथन को सामान्य व्यक्ति गलत अर्थों में भी ले सकता है। जिस प्रकार आज कोई फटेहाल व्यक्ति यह कह दे, "मैं सम्पूर्ण विश्व का स्वामी हूँ", तो लोग उसके कथन को उन्मत्त प्रलाप ही समझेंगे। साधारण जनता इसी कोटि में इमर्सन के कथन को भी ले सकती है, किन्तु गहराई से विचार करने पर इमर्सन के कथन का मुक्त ज्ञान उजागर हो जाता है।

वर्तमान युग में जितना भी भौतिक विकास हो रहा है, आश्चर्य-जनक साधनों का निरन्तर आविष्कार हो रहा है, उन सबका मूल में कर्ता कौन है? आखिर है तो मानव ही। मानव की मेधा ही तो विश्व में नये-नये आविष्कार करने में समर्थ है। इन सब शक्तियों का आविष्कार मानव के अन्तरंग से ही हो रहा है। जो आश्चर्य-जनक शक्ति एक वैज्ञानिक में दीखती है, वैसी ही शक्ति अपितु उससे भी कई गुनी अधिक शक्ति विश्व के प्रत्येक प्राणी में सूक्ष्म रूप से विद्य-मान है। हर मानव अनन्त शक्ति का स्वामी है। किसी की शक्ति आवृत्त है, तो किसी की अनावृत्त। इस विभेद के कारण ही आत्मिक-शक्ति के विविध रूप दृष्टिगोचर हो रहे हैं।

इमर्सन का कथन इस अर्थ में सत्य है कि उसकी आत्मा में सत्ता की अपेक्षा से अखिल विश्व का स्वामित्व विद्यमान है। सीजर के बाहुबल और प्लेटो के मस्तिष्क की बात से भी बढ़कर संपूर्ण विश्व में जितनी भी विलक्षण एवं अद्भुत शक्तियाँ परिलक्षित होती हैं, वे सभी शक्तियाँ मानव के अन्तर में विद्यमान हैं। प्रभु महावीर ने भी

अपने विशिष्ट ज्ञानालोक में देखकर अग-जग के प्राणियों की आत्मिक शक्ति को जागृत करने के लिए यह देशना प्रदान की—'अप्पा सो परमप्पा' आत्मा ही परमात्मा है। विश्व की प्रत्येक आत्मा में अनन्त शक्ति का स्रोत विद्यमान है। उस शाश्वत सत्ता की अपेक्षा से विश्व की समस्त आत्माएँ समस्त विश्व की स्वामी हैं। साधारण जन इस तत्व को नहीं समझ पाने के कारण अपनी अनन्त शक्ति की अभिव्यक्ति से वंचित रह जाता है। उस शक्ति को अभिव्यक्त करने के लिये अहर्निश पुरुषार्थ अपेक्षित है। प्रबल पुरुषार्थ से एक-न-एक दिन अनन्त शक्ति का यह स्रोत अवश्य फूट पड़ेगा।

कायर मानव अपनी शक्ति से अपरिचित रहकर वैभाविक परिणामों में ही भटकता रहता है और वैभाविक अवस्था उसे वास्तविक सुख नहीं दे पाती। महात्मा गाँधी के दिल में यह सबल विश्वास था कि मेरे अहिंसक आंदोलन से यह देश निश्चितरूपेण स्वतंत्र हो जायेगा। उन्होंने जब अपना अहिंसक आंदोलन चलाया, तब प्रारम्भ में तो कई लोगों ने उनकी हंसी उड़ाई। यह तुच्छ व्यक्ति इतने शक्तिशाली ब्रिटिश शासन को कैसे परास्त कर पायेगा, किन्तु महात्मा-गाँधी ने किसी की ओर ध्यान नहीं दिया। वे अपने आत्मबल के आधार पर बढ़ते ही चले गये। इस आत्म-विश्वास का अलौकिक प्रभाव हुआ। ब्रिटिश सत्ता हिल उठी। उन्होंने अपनी सैनिक शक्ति से कई बार गाँधीजी के आन्दोलन को दबाने का प्रयास किया। इसी संघर्ष में उन्हें जेल की यात्रा भी करनी पड़ी। किन्तु उन्होंने अपना आत्म-विश्वास कभी नहीं खोया। वे अडिग आत्म विश्वास के साथ अहिंसा के ध्वज को हाथ में लेकर भारत की स्वतंत्रता का संकल्प लिए लक्ष्य की ओर बढ़ते ही चले गये। अन्ततः उनके इस अनूठे आत्मबल के सामने ब्रिटिश शासन को झुकना पड़ा। भारत स्वतंत्र हुआ।

यह आत्म-शक्ति का एक छोटा-सा उदाहरण है। आत्मिक शक्ति को लेकर चलनेवाला क्या नहीं कर सकता? बस आवश्यकता है उस अनन्त शक्ति के केन्द्र को समझने की। उसका विज्ञान

प्राप्त कर दृढ़ संकल्प के साथ आगे बढ़ा जाय तो वह संपूर्ण विश्व का स्वामी बन सकता है। उसकी अनन्त अनन्त बची हुई शक्तियाँ हवा द्वारा राख के हटने पर धधकते अंगारे के समान जाज्वल्यमान हो उठेंगी। □

मिट्टी से क्या स्वर्ण नहीं निकाला जाता है ?
कीचड़ से क्या हीरा नहीं निकाला जाता है ?
तो फिर शरीर में तड़फ रही इस आत्मा को,
क्यों नहीं शरीर से मुक्त किया जाता है ?

# सफलता पाने का रहस्य

किसी भी कार्य में सफलता की प्राप्ति तभी हो पाती है जब मन में संदेह रहित बनकर, दृढ़ता के साथ आगे बढ़ा जाय। सन्देहशील मानव सफलता के चरम छोर पर पहुँच कर भी उसका वरण नहीं कर पाता। कई मानव ऐसे होते हैं कि उनमें कार्य करने की अपूर्व क्षमता होते हुए भी वे उससे परिचित न होने के कारण उस कार्य की ओर गतिशील नहीं बन पाते। उनकी सुषुप्त चेतना दबी रह जाती है। किन्तु जो व्यक्ति मन में कार्य के प्रति अपूर्व साहस के साथ निरन्तर पुरुषार्थशील बन जाता है, वह दिवास्वप्न के समान लगनेवाले अकल्पित कार्यों को भी कर डालता है। जिस मानव के मन में सन्देह का घुन लग जाता है वह छोटे-से-छोटे कार्य में भी सफलता प्राप्त नहीं कर पाता। उसकी यह विचारणा कि वह इसमें सफल हो पायेगा या नहीं, उसके सारे पुरुषार्थ को निरर्थक कर देती है। सिंह कभी नहीं सोचता कि उससे भी बढ़कर कोई वनचर है। उसका तो सदा यही विचार रहता है कि वह सारे जंगल का ही सम्राट् है। इसी सन्देह रहित प्रबल विश्वास के कारण वह गहन से गहन जंगलों में भी निर्भय होकर उन्मुक्त विचरण करता है।

सन्देह का घुन अच्छे-से-अच्छे अध्ययनशील विद्यार्थी को भी परीक्षा में अनुत्तीर्ण करवा देता है। उसकी सन्देहशीलता उसकी बुद्धि को कुंठित कर देती है। व्यवहार में भी कई व्यक्तियों के मुंह से यह सुनने को मिलता है कि क्या करें महाराज, आप लोगों को देखकर हमारी भी भावना होती है कि हम भी साधु बन जायें। इन भव-प्रपंचों से हटकर परम मुक्ति को प्राप्त कर लें। लेकिन हम इन संसारी प्रपंचों में फंसे हुए हैं। भावना होते हुए भी कुछ कर नहीं पाते हैं।

उनकी यह बात सुनकर मन में यह विचार प्रस्फुटित होता है कि

ये भद्रिक मानव, अमूल्य मानव जीवन को पाकर भी अपनी शक्ति को नहीं पहचान पा रहे हैं। जीवन की परम सफलता को पाने के इस सुन्दर अवसर को खो रहे हैं।

अटल साहस के साथ आगे बढ़ने पर संसार की कोई भी शक्ति लक्ष्य प्राप्ति में बाधक नहीं बन सकती। आगमिक पृष्ठों पर गजसुकुमार अनगार का वर्णन आता है जो कि आगार से अनगार बनकर, भगवान अरिष्टनेमी की आज्ञा को पाकर महाकाल श्मशान में स्थिरता के साथ ध्यान साधना में खड़े थे। उस वक्त सोमिल ब्राह्मण ने क्या किया ? (केर) खेर की लकड़ी के धधकते अंगारे उनके कोमल मस्तिष्क पर रख दिये। खिचड़ी की तरह खदखद करता हुआ मस्तिष्क जल उठा। सारे शरीर में भयंकर वेदना होने लगी। किन्तु गजसुकुमार अनगार की आत्मा ने उस वेदना को, शान्त-प्रशान्त रहकर समभाव के साथ सहन कर लिया। कुछ ही समय में घनघाती कर्मों का क्षय करके उनकी आत्मा में केवल ज्ञान, केवल दर्शन का परम स्वरूप उजागर हो गया। अल्प समय में ही वे मुक्तिगामी बन गए।

विचारणीय है कि यदि गजसुकुमार अनगार के मस्तिष्क पर जिस समय अंगारे रखे गये थे, उस समय उनके मन में थोड़े समय के लिये भी कापायिक विचार जागृत हो जाते। सोमिल ब्राह्मण के प्रति अंशतः बुरी भावना भी जग जाती तो वे लक्ष्य प्राप्त नहीं कर पाते। किन्तु वे अटल साहस एवं संदेह रहित आत्म विश्वास के साथ पथागत बाधाओं को पार करते ही चले गये। फलस्वरूप उन्होंने लक्ष्यानुरूप सफलता प्राप्त कर ली।

सफलता पाने के लिये लक्ष्य पर अटल साहस के साथ आगे बढ़ना आवश्यक है। बीच-बीच में आनेवाली बाधाओं से कभी घबड़ाना नहीं चाहिये। जो साधक मार्ग की बाधाओं से घबरा जाता है, वह कभी आगे नहीं बढ़ सकता है। चण्डकौशिक की आत्मा जो कि पूर्व भव में एक महान् तपस्वी/साधक के रूप में साधनारत थी, किन्तु उद्देश्यानुसार गति में आने वाली बाधा से ज्योंही उनकी आत्मा विचलित हुई त्योंही सफलता के किनारे पहुँचकर भी सफलता प्राप्त

नहीं कर सकी और चण्डकौशिक के रूप में तिर्यंच योनि में चली गई।

सफलता का रहस्य सन्देह रहित आत्म-विश्वास के साथ किया जानेवाला सत्पुरुषार्थ है। इसी अटल साहस एवं प्रबल पुरुषार्थ के माध्यम से ही वैज्ञानिक 'पियरे' ने पुच्छल तारे की खोज की थी। उसके पथ पर बड़े अवरोधक तत्व आए, यहाँ तक कि उनके प्राण तक संकट में पड़ गये। फिर भी 'पियरे' ने अपनी गति विचलित नहीं होने दी। प्राणघातक कष्टों को भी वे दृढ़ता के साथ झेलते चले गये। अन्ततः सफलता प्राप्त कर ही ली—पुच्छल तारे को खोज निकाला। अतीत का इतिहास ऐसी एक नहीं अनेक घटनाओं से भरा पड़ा है।

अतः साधक को मुक्ति रूप परम साध्य में सफलता पाने के लिये प्रबल साहस एवं सत् पुरुषार्थ के साथ निरन्तर बढ़ते जाना चाहिये।

□

# अनन्त शक्ति की अभिव्यक्ति में बाधक कौन?

एक बार मस्तिष्क में जिज्ञासा उठी कि जब विश्व की सबसे बड़ी शक्ति अपने ही भीतर विद्यमान है तो फिर हम दुःखी और संतप्त क्यों हैं? क्यों नहीं हम अपनी शक्ति को विकसित कर पा रहे हैं? संसार की सबसे बड़ी शक्ति वहीं है तो फिर उस शक्ति का अवरोधक कौन हो सकता है? जैसा कि व्यावहारिक भाषा में कहा जाता है 'मालिक का मालिक कौन?' यदि मालिक का भी कोई मालिक है तो सही अर्थों में मालिक नहीं सेवक है, उसी प्रकार अनन्त शक्ति संपन्न आत्मा स्वयं है तो उस शक्ति को दबाने वाला दूसरा कौन हो सकता है? यदि कोई दूसरा तत्व है तो फिर आत्मा अनन्त शक्ति वाली नहीं रही, क्योंकि उससे भी अधिक शक्ति वाला अवरोधक तत्व दूसरा है।

विचार तरंगें शीघ्रता से प्रश्न का समाधान खोजने लगीं। अन्ततः प्रश्न का समाधान निकल ही गया। प्रभु महावीर की दिव्य घोषणा स्मृति पट पर उभरी--

"अप्पा कत्ता विकता य, दुहाणय सुहाणय।
अप्पा मितममितं च, दुपट्ठिओ सुप्पट्ठिओ॥"

आत्मा ही आत्मा के लिये सुख और दुःख उत्पन्न करने वाली है। सत्प्रवृत्ति में लगी हुई आत्मा ही आत्मा के लिये मित्र है। दुष्प्रवृत्ति में लगी हुई आत्मा, आत्मा के लिये शत्रु है।

"अप्पा नई वेयरणी, अप्पा मे कूड़ सामली।
अप्पा काम दुहा धेणू, अप्पा में नंदनं वणं॥"

मेरी आत्मा ही वैतरणी नदी है। मेरी आत्मा ही कूटशाल्मली वृक्ष है। आत्मा ही कामदुग्धा धेनु है। आत्मा ही नन्दन वन है।

प्रभु के इस सन्देश ने विचारों को मोड़ दिया। वास्तव में अनन्त

शक्ति संपन्न आत्मा का अवरोधक तत्व दूसरा कोई हो ही नहीं सकता। आत्मा ही आत्मा का बाधक या साधक है।

सुख एवं दुःख की जितनी भी अनुभूति होती है, वह सब स्वयं के ही कार्यों से होती है। आत्मा स्वयं ही अपनी अनन्त शक्ति का अवरोध कर रही है। यह कैसे? क्या स्वयं आत्मा ही अपनी अनन्त शक्ति की अभिव्यक्ति में बाधक बन रही है?

उक्त कथन सत्य है। उसका अज्ञान ही उसकी शक्ति को जागृत नहीं होने दे रहा है। जब तक उसे स्वत्व का सच्चा बोध नहीं होगा, तब तक अनन्त शक्ति की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती। शक्ति का जागरण भी स्वयं के ही सत्प्रयासों पर निर्भर है।

साधारण जन यह सोचते हैं कि अमुक व्यक्ति हमें सुख दे रहा है या अमुक व्यक्ति दुःखी बना रहा है। विज्ञजन यह सोचकर संतोष कर लेते हैं कि हमारे कार्य ही हमें सुखी या दुःखी बना रहे हैं।

वस्तुतः कोई किसी को सुखी अथवा दुखी नहीं बना सकता। अन्य व्यक्ति सुख या दुःख में निमित्त हो सकते हैं। उपादान के रूप में तो स्वयं आत्मा ही आत्मा को सुखी या दुःखी बनाती है।

उदाहरण के रूप में एक चलते हुए व्यक्ति को रास्ते में पड़े पत्थर से ठोकर लग गई और पैरों से रुधिर बहने लगा। वह व्यक्ति यदि इसका दोष पत्थर को देकर पत्थर को पटकने लगे तो सुज्ञ व्यक्ति उसे नादान एवं अज्ञानी ही समझते हैं, क्योंकि पत्थर का इसमें क्या दोष? वह खुद ही विवेक के साथ नहीं चल रहा था—इसीलिये ठोकर लगी। यह दोष पत्थर का नहीं, उसी का है।

इसी प्रकार अनन्त-शक्ति सम्पन्न आत्मा को अपनी शक्ति की अभिव्यक्ति में बाधक संसार की अन्य कोई वस्तु नहीं है। कर्म या अन्य तत्व उसकी बाधकता में पत्थर की तरह निमित्त हो सकते हैं। वास्तव में तो आत्मा ही आत्मा की बाधक या साधक है।

□

# निराशा से असफलता

संसार में अनेक व्यक्ति ऐसे पाये जायेंगे जो निराशा के रोग से ग्रस्त होने के कारण लक्ष्यानुरूप सफलता प्राप्त नहीं कर पाते। यह निराशा का रोग कई कारणों से पैदा हो जाता है। एक बहुत बड़ा कारण यह है कि किसी के द्वारा जब कोई बड़ा पाप कर्म हो जाता है, तो उससे उसका मन हताश हो जाता है। उसके अन्तर में अनूठे कार्य करने वाली प्रबल शक्तियाँ होते हुए भी वे कुंठित होने लगती हैं। मन, कार्यकारी शक्तियों का मूल केन्द्र है। अन्य शक्तियाँ इसी के द्वारा प्रवाहित होती हैं।

सफलता यदि पाना है तो मन में कभी भी निराशा के अंकुर नहीं फूटने देना चाहिये। सदा आशा और साहस के साथ आगे बढ़ते रहना चाहिये। आशा के साथ आगे बढ़नेवाला व्यक्ति बड़े से बड़े कार्य को पूर्ण करने में सक्षम बन जाता है

एक अनाथ लड़का था। उसके मात-पिता नहीं थे। किन्तु उस अनाथ बच्चे के मन में लंदन का लार्ड बनने की उत्कट अभिलाषा थी। उसी भावना को लेकर वह आगे बढ़ने का प्रयत्न कर रहा था। आशा के अनुरूप वह एक के बाद एक सीढ़ी चढ़ने लगा। बहुत कुछ विकास कर लेने पर भी लंदन का लार्ड बनने की उसकी आशा वैसी की वैसी बनी रही। वह निराश नहीं हुआ, आगे बढ़ता ही चला गया। अन्तत: उसकी भावना सफल हुई और एक दिन लंदन का लार्ड बन गया।

आत्म-साधना के परम लक्ष्य को लेकर चलनेवाले साधक को कभी भी निराश नहीं होना चाहिये। कई साधक वर्षों तक साधना करते रहते हैं। जब उन्हें कोई निधि उपलब्ध/प्राप्त नहीं होती तो वे उस महान्-साधना से कभी-कभी पतित भी हो जाते हैं। उनकी

वर्षों की साधना क्षण भर में निरर्थक हो जाती है। जो लक्ष्य वे पाना चाहते थे उससे बहुत दूर हो जाते हैं।

समुद्र में गोता लगाने वाला अन्दर में पैठ करते-करते हताश हो जाय कि अभी तक वह तलतक नहीं पहुँचा है, लक्ष्य न जाने अभी कितना दूर है? ऐसा सोचकर वह यदि नीचे में पैठना बंद कर दे तो उन चमकदार बहुमूल्य रत्नों के लक्ष्य को वह प्राप्त नहीं कर पाएगा।

आत्म-साधना भी समुद्र में पैठने की तरह एक दुःसाध्य कार्य है। इस पथ पर बढ़ते हुए मुक्ति रूप अपूर्व रत्न को प्राप्त करना होना है किन्तु जब साधक निराश हो जाता है, तो वह उस महान् उपलब्धि से वंचित हो जाता है।

आचार्य आषाढ़भूति की एक घटना द्रष्टव्य है। आचार्य साधना के महा-पथ पर बढ़ रहे थे। अपनी आत्मा की साधना के साथ अन्य आत्माओं को भी प्रेरित कर रहे थे। उनकी प्रेरणा से उनके अनेक शिष्य आत्म-साधना के पथ पर आगे बढ़ चुके थे। किन्तु आचार्य अषाढ़भूति के मन में एक दिन निराशा का एक अंकुर जाग उठा कि इतने शिष्य संथारा पूर्वक स्वर्ग गमन कर चुके, किन्तु एक भी वापस नहीं आया। अतः लगता है स्वर्ग-नरक कुछ नहीं है। यह मात्र कल्पना है। इस स्वर्ग-नरक के पीछे इतने वर्षों तक अपने तन को साधना में झुलसाया। इससे अब कुछ नहीं मिलनेवाला है।

ऐसे चिन्तन से आषाढ़भूति निराश हो गए। यह निराशा ही उनके जीवन को पतित करनेवाली बन गई। यहाँ तक कि जो पृथ्वीकायिक जीवों की हिंसा की कल्पना भी मन में नहीं लाते, छःकाय जीवों के उपमर्दक बन गए। वर्षों की जो साधना उन्हें [illegible] तक पहुँचाने वाली थी, वह उनके पतन का कारण बन गई।

अतः साधक को प्रबल आशा के साथ साधना-पथ पर अहर्निश बढ़ते रहना चाहिये। निराशा के रोग को मन से निकाल फेंकना चाहिये। □

# आत्म-शोधक : तप

तप का जितना महत्व जैन धर्म में है, उतना अन्य किसी भी धर्म में नहीं है। जैन साधक मात्र गर्म पानी के आधार पर महीनों तक तप-आराधना कर लेते हैं। यह साधना आत्मा को विकृत अध्यवसाय से हटाकर प्रशस्त अध्यवसाय की ओर उन्मुख करती है।

इन्द्रियों के स्रोत, पुष्टि को पाकर अपने-अपने विषय की ओर दौड़ने लगते हैं। इन्द्रियों की यह वैषयिक प्रवृत्ति आत्मा के पतन का कारण बनती है। कोई योगनिष्ठ साधक ही इन्द्रियों की वैषयिक प्रवृत्ति को मानसिक शक्ति से रोक सकते हैं। इन्द्रियों की वैषयिक प्रवृत्ति को रोकने के लिये तप एक महत्वपूर्ण साधन है।

जब भी कोई व्यक्ति उपवास करता है तो उसकी इन्द्रियाँ शिथिल होने लगती हैं। वैषयिक सुखों से पराङ्मुख बनती हैं। तब ऐसे व्यक्ति को कानों में मधुर से मधुर गीत सुनाए जाँय जो कभी उसे अच्छे लगनेवाले थे, तो वे उसे अच्छे नहीं लगेंगे। चलचित्र दिखलाया जाय, वह भी अच्छा नहीं लगेगा। खेलना, कूदना, घूमना आदि सभी कार्यों से वह निस्पृह बन जाएगा। उस दिन के लिए जितनी भी वैषयिक प्रवृत्तियाँ इन्द्रियों से होने वाली थीं, वे सभी शान्त हो जाती हैं। शारीरिक प्रक्रिया की शान्ति के साथ ही मानसिक उछल-कूद भी शान्त होने लगती है।

इस शान्ति से आत्मा विभाव से स्वभाव की ओर मुड़ने लगती है। वैषयिक वृत्तियों से आत्मा का शोधन होने लगता है। विकारी भावनाएँ शान्त होनें लगती हैं। जितना-जितना वैकारिक वृत्तियों का शोधन होगा, उतनी-उतनी आत्मिक शक्तियाँ विकसित होने लगेंगी।

अनादि काल से आत्मा का वैभाविक वृत्तियों से संबंध जुड़ा हुआ है। एक भव ही नहीं अनन्त भव बीत गए वैभाविक वृत्तियों से आत्मा

का संबंध रहते हुए। उन वैभाविक वृत्तियों का रंग आत्मा के साथ बहुत गहरा जम चुका है। इस गहरे रंग को हटाने के लिए उतने ही अधिक प्रबल प्रयत्न की आवश्यकता होती है।

वस्त्र पर जब कोई चिकना दाग लग जाता है तो वह सीधी तरह से साफ नहीं होता है, उसे साफ करने के लिए गृहस्थ सर्फ, टिनोपाल, साबुन आदि क्षार पदार्थों का उपयोग करते हैं। दाग बहुत प्रयत्नों से दूर हो पाता है। ठीक इस प्रकार आत्मा के ऊपर वैभाविक, वैकारिक वृत्तियों के एक नहीं अनेक धब्बे लगे हुए हैं। वे धब्बे भी अनादिकाल से चले आ रहे हैं। अतः उनको दूर करने के लिए साधक को बहुत पुरुषार्थ करना पड़ता है। उसमें भी प्रमुख पुरुषार्थ है तप का। तपश्चर्या करके साधक सर्वप्रथम अपनी आत्मा को वर्तमान की वैभाविक वृत्तियों से हटा लेता है। आत्मा की शान्त/प्रशान्त अवस्था बना लेता है। उस शान्त/प्रशान्त अवस्था में उसकी जन्म-जन्म से जमी विकृतियों का तीव्रता से संशोधन होने लगता है। आत्मा का एक ही लक्ष्य आत्म-शोधन का बन जाता है। इसीलिये जैन धर्म में तप का बहुत महत्व है।

महीनों तक चलनेवाली तपाराधना में उसका शरीर रुक्ष-शुष्क हो सकता है किन्तु आत्मिक वृत्ति बलवती होती जाती है। तप के द्वारा ऐन्द्रियकशिथिलता के साथ-साथ साधककी काषायिक वृत्तियाँ भी शिथिल हो, यह आवश्यक है। ऐन्द्रियक शिथिलता तो हो जाय किन्तु यदि काषायिक वृत्तियों का उभार आने लग जाय तो साधक आत्म-शोधन के स्थान पर और अधिक आत्मा को वैभाविक अवस्था में डाल देता है।

तप करने वाले साधक के मन में यशोलिप्सा की भावना भी नहीं आनी चाहिये। यदि उसके मन में अपने तप के प्रदर्शन की अभीप्सा है, वह लोगों से अपनी प्रशंसा सुनने के लिए उत्कंठित है, तो ऐसी अवस्था में भी तपाराधना आत्म-शोधन का अंग नहीं बन सकती।

साधक को सभी अवस्थाओं से निस्पृह होकर मात्र आत्म-शोधन के लिए तपाराधना करनी चाहिये। ऐसी तपाराधना ही आत्म-

शोधन करने वाली बनती है। जैनागम ऐसी तपाराधना करने वालों के उदाहरण से भरे पड़े हैं।

तपाराधना आत्म-शोधन के साथ शरीर का शोधन करने वाली भी होती है। आयुर्वेद में ऐसा माना जाता है कि ३६ दिन तक भूखे रहने पर शरीर का कायाकल्प होता है। इस कायाकाल्प से अनेक दु:साध्य रोग भी दूर हो जाते हैं। अत: लम्बी तपाराधना आत्म-शोधन के साथ शरीर का शोधन करने वाली भी होती है।

□

हर दिन सूर्य उदित हो जाता है।
हर पल समय व्यतीत हो जाता है।।
सतत बीत रहे समय के साथ जग में,
कुछ न कुछ सदैव घटित हो जाता है।।

# पुद्गल : सुख का कारण नहीं

आज का मानस भौतिक वस्तुओं को पाने में प्रसन्नता की अनुभूति करता है। जब मन किसी पदार्थ को पाने के लिये उत्कंठित होता है, तब उसे पाने के लिये जी जान से पुरुषार्थ करने लगता है। अथक परिश्रम करने के बाद जब वह अभीष्ट वस्तु प्राप्त कर लेता है तब उसके पाने में जिस सुख एवं प्रसन्नता की कल्पनाएँ मन में संजोई हुई थीं, वे सब की सब विलुप्त हो जाती हैं और मन दूसरी वस्तुओं को पाने के लिए दौड़ने लगता है। उसे अब अन्य तत्वों में प्रसन्नता नजर आने लगती है। मन उसे पाने के लिये दौड़ने लगता है। अनवरत प्रयत्न के बाद जब वह वस्तु भी हस्तगत हो जाती है तो उसमें संजोई हुई प्रसन्नता भी विलुप्त हो जाती है। इस प्रकार मन एक के बाद एक वस्तु पर आकर्षित होता हुआ वह उन में सुख एवं प्रसन्नता का अन्वेषण करता रहता है, किन्तु संसार का कोई भी पौद्गलिक तत्व उसे प्रसन्नता की अनुभूति नहीं करा पाता। इस प्रसन्नता के पाने की भाग-दौड़ में दुःख की ही प्राप्ति होती है उसे।

कभी-कभी नकली सोना आकर्षण का विषय बन सकता है। अनभिज्ञ व्यक्ति उसे देखकर सुख की विविध कल्पनाएँ भी कर सकता है किन्तु उसकी कल्पनाओं का वह महल तभी तक टिक पाता है जब तक कि वास्तविकता का भान न हो जाय। ज्योंही स्वर्ण की चमक हटती है त्यों ही तत्संबंधी सारी प्रसन्नता विलुप्ति के गर्त में चली जाती है। संसार के समस्त पदार्थ भी नकली स्वर्ण की तरह ही दीखने में बहुत आकर्षक महसूस होते हैं किन्तु प्राप्ति के अनन्तर उनका आकर्षण नष्ट हो जाता है। प्रसन्नता की अनुभूति के प्रतीक वे पदार्थ अप्रसन्नता दायक बन जाते हैं।

चमचमाते पदार्थ को देखकर व्यक्ति का मानस हीरे की अनुभूति करने लगता है। हीरे के साथ ही उसकी अनेक कल्प-

नाओं के तार भी जुड़ने लगते हैं। किन्तु जब वह चमचमाता पदार्थ किसी परीक्षक के हाथों में रखा जाता है और वह उसे काँच का टुकड़ा घोषित करता है तो उस समय हीरे के साथ संजोई हुई सारी सुखद कल्पनाएं विलीन हो जाती हैं, प्रसन्नता विनष्ट हो जाती है।

पुद्गलों का आकर्षण भी उसी चमचमाते पत्थर के समान है, जो अनभिज्ञ व्यक्तियों को हीरे के समान आकर्षक नजर आता है। पुद्गलों का यह आकर्षण तभी तक रह पाता है जब तक कि उसकी मूल स्थिति का भान न हो। सच्चे साधक का मानस कभी भी पौद्गलिक सुखों में आसक्त नहीं होता। पुद्गल यथार्थ सुख देनेवाला नहीं बनता है, वह तो क्षणिक सुख ही दे सकता है, अन्ततः वह भी दुःखप्रद ही होता है।

मन की कल्पनाओं को बाह्य तत्वों से हटा कर अन्तर्मुखी बनाना चाहिये। विश्व का कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं हुआ, जिसने पौद्गलिक तत्वों से सुख की परम उपलब्धि की हो। सच तो यह है कि सुख की उपलब्धि भौतिक तत्वों में है ही नहीं। □

# स्वतन्त्रता या परतंत्रता

विश्व का कोई भी प्राणी परतंत्र रहना नहीं चाहता, सभी स्वतंत्र रहना चाहते हैं; यहाँ तक कि तिर्यंच पशु-पक्षी भी परतंत्र रहना नहीं चाहते। तोते को क्यों न सोने के पिंजरे में रखा जाय, रत्न जटित कटोरे में मिष्ठाहार कराया जाय तथापि वह पिंजड़े में रहना नहीं चाहता। उसका मन उन्मुक्त आनन्द लूटने के लिये मचल उठता है। ज्योंही उड़ने का अवसर मिलता है, त्योंही वह फुर्र से उड़ जाता है।

स्वतंत्रता सभी चाहते हैं। स्वतंत्रता ही यथार्थ में आत्मा को परमानन्द की अनुभूति कराती है किन्तु स्वतंत्रता की इस दौड़ में भी मानव यथार्थ ज्ञान के अभाव में परतंत्रता से जकड़ जाता है।

परतंत्रता के अनेक रूप हैं। कोई व्यक्ति जेल में बैठा है तो वह जेल से स्वतंत्र होना चाहता है। किसी का देश परतंत्र है तो वह देश को स्वतंत्र कराना चाहता है। कोई परिवार के बंधन से जकड़ा है तो वह उससे स्वतंत्र होना चाहता है। कोई अभौतिक आत्मा को भौतिकी परतंत्रता से हटाना चाहता है। इस प्रकार परतंत्रता के विविध रूप सामने आते हैं।

जेल का बंधन तो एक सामान्य-सा बंधन है। अवधि पूरी होती है, वह स्वतंत्र हो जाता है। भारत १५ अगस्त, १९४७ को स्वतंत्र हो गया है। ब्रिटिश शासन की परतंत्रता हट चुकी है। सही अर्थों में सोचा जाय तो शासकीय परतंत्रता ही हटी है। किन्तु वर्षों से जनता के मानस में परतंत्रता के जो संस्कार जम गये हैं, वे अभी तक भी नहीं हट पाये हैं। भारत की मातृभाषा हिन्दी है, किन्तु लोगों का जितना आकर्षण आंग्ल भाषा के प्रति है, उतना हिन्दी के प्रति नहीं है। दो चार पढ़े-लिखे व्यक्ति कहीं इकट्ठे भी हो जायेंगे तो उनकी बातें अंग्रेजी में ही होंगी। वे इंग्लिश भाषा में बोलना अपना गौरव समझते हैं। भाषा को ही नहीं अपितु खान-पान, रहन-सहन आदि अनेक व्यावहारिक बातों

में भारतीय जनता परतंत्र बनती जा रही है। कोई भी शिष्ट कहलानेवाला व्यक्ति अपने पुत्र को उसी पाठशाला में भर्ती कराना चाहेगा, जहाँ अंग्रेजी अधिक पढ़ाई जाती है। ऐसे संस्कार में पोषित बच्चा देश एवं राष्ट्र का हितैषी कैसे बन सकता है? इस ओर देश के विरले ही नागरिक ध्यान दे पा रहे हैं।

आध्यात्मिक दृष्टि से विचार किया जाय तो संसार का समस्त प्राणी वर्ग कर्मों के गहरे बंधनों से जकड़ा हुआ है। जब तक आत्मा की कर्मों से परिपूर्ण विमुक्ति नहीं होगी तब तक शाश्वत स्वतंत्रता मिल ही नहीं सकती। देश की स्वतंत्रता या परतंत्रता से जीवन व्यवहार में कोई विशेष परिवर्तन नहीं आता है। सोचते हैं कि भारत जब परतंत्र था और ब्रिटिश शासन चल रहा था तब व्यवस्था सुसंचालित थी। किन्तु जब से भारत को स्वतंत्रता मिली तबसे यह देश हिन्दुस्तान-पाकिस्तान दो भागों में विभाजित हो गया। आज देश में फैली हुई अराजकता, स्वार्थलिप्सा, अप्रामाणिकता, अनैतिकता, विलासिता, उद्दण्डता देश की स्वतंत्रता को हास्यापद बनाए हुए है। जब तक वास्तविक स्वतंत्रता नहीं आएगी, तब तक देश में स्वतंत्रता का सही साम्राज्य स्थापित नहीं हो सकता।

वास्तविक स्वतंत्रता वही है जो कि स्व के जीवन-तंत्र को अपने हाथों में ले ले। योगी, महायोगी जीवनतंत्र की स्वतंत्रता के लिए ही गिरिकन्दराओं में, भयानक अटवियों में विचरण किया करते हैं। प्रभु महावीर भी आत्मा की स्वतंत्रता को पाने के लिये ही धन-वैभव, सुख-संपत्ति का परित्याग कर कंटकाकीर्ण पथ पर दृढ़ता के साथ बढ़ चले थे। लगभग साढ़े बारह वर्ष की दीर्घ साधना एवं अनवरत परिश्रम के बाद प्रभु ने जीवन की शाश्वत स्वतंत्रता प्राप्त कर ली। आत्मा में सदा-सदा के लिए अनन्त ज्ञान की ज्योति जगमगा उठी। अनन्त शक्ति का स्रोत फूट पड़ा।

स्वतंत्रता की चरम परिणति तब ही है, जब प्राणी अपने आत्मा के तंत्र को व्यवस्थित कर ले। उसे काम, क्रोध, मोह, मत्सर, विषय, कषायों रूप शत्रुओं से दबने न दे। □

# स्वर्ग, नरक, अपवर्ग

आधुनिक चिन्तक स्वर्ग, नरक एवं अपवर्ग के सिद्धान्त को काल्पनिक उड़ान समझते हैं। वे मानते हैं कि जो कुछ भी है, वह सब प्रत्यक्ष है। जिस मानव को अत्यधिक दुःखानुभाव हो रहा है, वह नरक की वेदना भोग रहा है और जिस मानव के पास अत्यधिक सुख सम्पत्ति है वह स्वर्गिक सुख की अनुभूति कर रहा है। स्वर्ग और नरक इस मानव जीवन में ही हैं। आधुनिक चिन्तकों के ये विचार सत्य के दर्पण में देखने पर निपट धूमिल परिलक्षित होते हैं।

स्वर्ग-नरक या अपवर्ग कोई कोरी कल्पना नहीं, किन्तु विश्व द्रष्टा महापुरुषों के ज्ञान से आलोकित शाश्वत् सत्य है। अवितथ (सत्य) भाषी जिनेश्वरों की वाणी कभी गलत नहीं हो सकती है। व्यावहारिक दृष्टि से भी देखा जाय, तो स्वर्ग नरक निरीह कल्पना प्रतीत नहीं होती। मानव जीवन में अनुभूत सुख एवं दुःख को स्वर्ग एवं नरक की संज्ञा से अभिव्यंजित किया जाता है। यथार्थ में वह स्वर्ग या नरक नहीं है। किसी वीर व्यक्ति को नरसिंह कहा जाता है तो इसका यह तात्पर्य नहीं कि मनुष्य सिंह है। मनुष्य सिंह नहीं सिंह के समान है। सिंह की सत्ता अलग है, मनुष्य का अस्तित्व अलग है। दोनों की स्वतंत्र सत्ता होने पर भी मनुष्य को सिंह की उपमा दी जा सकती है। ठीक इसी प्रकार नरक और स्वर्ग की स्वतंत्र सत्ता होने पर भी मानवीय सुख और दुखों को स्वर्ग या नरक की उपमा दी जा सकती है। ग्रन्थों में नरक और स्वर्ग की स्वतंत्र सत्ता के बारे में विस्तृत विवेचना मिलती है।

जिस प्रकार मानव से पशु का स्वतंत्र अस्तित्व है। मानव पशु नहीं है। पशु मानव नहीं है। इसी प्रकार स्वर्ग और नरक का मानव जीवन से परे स्वतंत्र अस्तित्व है।

स्वर्ग के अन्दर भौतिक सुखों का प्राचुर्य है तो नरक के अन्दर दुःखों की प्रचुरता है। सुख और दुःख की इस अनवरत धारा में कर्मबद्ध

आत्माओं का परिभ्रमण होता रहता है। पुण्य के अत्यधिक अर्जन से आत्मा स्वर्ग लोक में चली जाती है। पाप के अत्यधिक बंधन से आत्मा नरक में चली जाती है। किन्तु जब आत्मा पाप और पुण्य से सर्वथा विनिर्मुक्त बनती है, तब अपवर्ग की अवस्था को प्राप्त कर लेती है। अपवर्ग की अनुभूति अनिर्वचनीय होती है। अपवर्ग अवस्था को पाने पर आत्मा शाश्वत आनन्द में तल्लीन हो जाती है। वह आनन्द, वह सुख संसार के समस्त भौतिक सुखों से विलक्षण होता है। भौतिक तत्वों से अपवर्ग के आनन्द को परखा नहीं जा सकता। जिस प्रकार धान्य तोलने के तराजू से मोतियों को नहीं तोला जा सकता। ठीक उसी प्रकार अपवर्गिक सुखों को भौतिकता से नहीं नापा जा सकता है।

विश्व की प्रत्येक मुमुक्षु आत्मा का लक्ष्य परम सुख को पाना है। उस परम सुख की उपलब्धि अपवर्ग में ही हो सकती है। □

# आत्मा की आवाज

आज विश्व में उद्दण्डता, अनैतिकता, विलासिता का जितना भी वातावरण परिलक्षित हो रहा है वह सब आत्मा के स्वभाव को दबाकर विभाव में जाने का ही परिणाम है। स्वभाव की शक्ति पर जब वैभाविक तत्वों की प्रधानता आती है, तब आत्मशक्ति, आत्मिक आवाज दब जाती है। जिस प्रकार सुगन्धित तत्व दुर्गन्धित तत्वों से दब जाते हैं। उसी प्रकार आत्मा का स्वभाव, विभाव के प्राबल्य से दब जाता है। जब कोई भी व्यक्ति अनैतिक कार्यों में पहली बार प्रवृति करता है, तब उसकी अन्तरात्मा की आवाज बार-बार उसे अनैतिक कार्यों की प्रवृति से रोकने लगती है। नैतिक और अनैतिक कार्यों में द्वन्द्वात्मक प्रवृति होने लगती है। इस द्वन्द्वात्मक प्रवृति में जब अनैतिक विचार तीव्रता के साथ जागृत हो उठते हैं तब गलत कार्यों में प्रवृति होने लगती है। अनैतिकता की प्रवृति जब निरन्तर बढ़ती चली जाती है तब आत्मिक स्वरूप दबता चला जाता है। और अन्ततः ऐसी स्थिति आ जाती है कि आत्मिक आवाज को व्यक्ति पकड़ ही नहीं पाता है। आत्मा पर वैभाविक तत्वों का पूर्ण आधिपत्य हो जाता है। उदाहरण के रूप में जैसे एक व्यक्ति के मन में चोरी करने के लिये जब पहली बार विचार आते हैं, तब उसकी अन्तरात्मा से आवाज उठती है कि यह गलत कार्य है, अनैतिक है, तुम्हारे योग्य नहीं है। इसे नहीं करना चाहिये लेकिन मानव की वैभाविक वृतियाँ जागृत हो उठती हैं और आत्मा की आवाज को दबाने लगती हैं। अनैतिक विचार उसे खींचते रहते हैं।

दूसरी ओर उसकी आत्मा पुनः-पुनः पुकार कर उसे रोकती है, उसे जागृत करने का प्रयत्न करती है। चोरी करने के बाद भी वह भयभीत बना रहता है। यह सब पहली बार चोरी करते समय होता है किन्तु वही व्यक्ति जब दूसरी बार चोरी करने लगता है, तब उसकी आत्मा की आवाज उतनी नहीं उठती, जितनी पहली बार

चोरी करते समय उठी थी। वही व्यक्ति तीन-चार बार जब चोरी कर चुका होता है तब उसकी आत्मा की आवाज पूर्णतः दब जाती है और अनैतिक तत्वों का आत्मा पर आधिपत्य हो जाता है।

यह तो एक चोर कर्म की बात हुई। असत्य बोलते समय भी आत्मा की आवाज उठेगी, यह गलत कार्य है। पर जब असत्य बोलने की उसकी आदत ही पड़ जाती है तब वह आत्मिक आवाज की ओर ध्यान नहीं दे पाता।

यही बात सभी अनैतिक वृतियों एवं अधार्मिक प्रवृतियों में लागू होती है। यदि मानव आत्मा की आवाज को समझने लग जाय तथा अन्तरात्मा के अनुसार प्रवृति करे तो वह कभी गलत कार्य नहीं कर सकता। सभी के पास सम्यक् निर्णायक शक्ति विद्यमान है। आवश्यकता है उसे समझने की। □

# आत्मा की आवाज

आज विश्व में उद्दण्डता, अनैतिकता, विलासिता का जितना भी वातावरण परिलक्षित हो रहा है वह सब आत्मा के स्वभाव को दबाकर विभाव में जाने का ही परिणाम है। स्वभाव की शक्ति पर जब वैभाविक तत्वों की प्रधानता आती है, तब आत्मशक्ति, आत्मिक आवाज दब जाती है। जिस प्रकार सुगन्धित तत्व दुर्गन्धित तत्वों से दब जाते हैं। उसी प्रकार आत्मा का स्वभाव, विभाव के प्राबल्य से दब जाता है। जब कोई भी व्यक्ति अनैतिक कार्यों में पहली बार प्रवृति करता है, तब उसकी अन्तरात्मा की आवाज बार-बार उसे अनैतिक कार्यो की प्रवृति से रोकने लगती है। नैतिक और अनैतिक कार्यों में द्वन्द्वात्मक प्रवृति होने लगती है। इस द्वन्द्वात्मक प्रवृति में जब अनैतिक विचार तीव्रता के साथ जागृत हो उठते हैं तब गलत कार्यो में प्रवृति होने लगती है। अनैतिकता की प्रवृति जब निरन्तर बढ़ती चली जाती है तब आत्मिक स्वरूप दबता चला जाता है। और अन्ततः ऐसी स्थिति आ जाती है कि आत्मिक आवाज को व्यक्ति पकड़ ही नहीं पाता है। आत्मा पर वैभाविक तत्वों का पूर्ण आधिपत्य हो जाता है। उदाहरण के रूप में जैसे एक व्यक्ति के मन में चोरी करने के लिये जब पहली बार विचार आते हैं, तब उसकी अन्तरात्मा से आवाज उठती है कि यह गलत कार्य है, अनैतिक है, तुम्हारे योग्य नहीं है। इसे नहीं करना चाहिये लेकिन मानव की वैभाविक वृतियाँ जागृत हो उठती हैं और आत्मा की आवाज को दबाने लगती हैं। अनैतिक विचार उसे खींचते रहते हैं।

दूसरी ओर उसकी आत्मा पुनः-पुनः पुकार कर उसे रोकती है, उसे जागृत करने का प्रयत्न करती है। चोरी करने के बाद भी वह भयभीत बना रहता है। यह सब पहली बार चोरी करते समय होता है किन्तु वही व्यक्ति जब दूसरी बार चोरी करने लगता है, तब उसकी आत्मा की आवाज उतनी नहीं उठती, जितनी पहली बार

चोरी करते समय उठी थी। वही व्यक्ति तीन-चार बार जब चोरी कर चुका होता है तब उसकी आत्मा की आवाज पूर्णतः दब जाती है और अनैतिक तत्वों का आत्मा पर आधिपत्य हो जाता है।

यह तो एक चोर कर्म की बात हुई। असत्य बोलते समय भी आत्मा की आवाज उठेगी, यह गलत कार्य है। पर जब असत्य बोलने की उसकी आदत ही पड़ जाती है तब वह आत्मिक आवाज की ओर ध्यान नहीं दे पाता।

यही बात सभी अनैतिक वृतियों एवं अधार्मिक प्रवृतियों में लागू होती है। यदि मानव आत्मा की आवाज को समझने लग जाय तथा अन्तरात्मा के अनुसार प्रवृति करे तो वह कभी गलत कार्य नहीं कर सकता। सभी के पास सम्यक् निर्णायक शक्ति विद्यमान है। आवश्यकता है उसे समझने की। □

# मानव और मानवता

हर तत्व का अपना-अपना स्वभाव होता है। जब तक वह अपने स्वभाव के अनुसार प्रवृति करता है तब तक संसार की अवस्था समीचीन तरीके से चलती रहती है। पानी का स्वभाव शीतलता है, अग्नि का स्वभाव उष्णता है। पदार्थ जब तक अपने स्वभाव के अनुसार गति करते हैं तब तक वे उपयोगी बने रहते हैं किन्तु जब वे अपने स्वभाव को छोड़ दें तो विचित्र स्थिति पैदा हो जाती है। चौरासी लाख जीव योनियों में प्रत्येक की अपनी-अपनी वृति होती है। वृति के अनुसार प्रवृति चलती रहती है। इन चौरासी लाख जीव योनियों में विद्यमान प्राणियों में मानव सर्वश्रेष्ठ चिन्तनशील प्राणी है। वह अपने विकासशील विचारों पर गति करता हुआ बहुत आगे बढ़ सकता है। मानव शरीर तो एक पिण्ड है। मानवता उसकी वृति है। पिण्डात्मक शरीर जब मानवता रूपी साँचे में ढाला जाता है, तब मानवीय रूप उभरने लगता है।

मकान बनाने के लिये पहले ईंट, चूना, पत्थर, सीमेंट आदि सामग्री एकत्रित की जाती है। इस संग्रह मात्र से भवन का रूप नहीं बन जाता है। उन वस्तुओं से भवन-निर्माण का कार्य प्रारम्भ किया जाता है। पहले भवन का ढांचा खड़ा किया जाता है, उसके बाद उस पर पलस्तर, रंग, वारनिस आदि के द्वारा उसे रमणीय बनाया जाता है। जब सभी प्रकार से वह तैयार हो जाता है, तब मानव के निवास योग्य बन पाता है।

ठीक इसी प्रकार मानव जीवन की स्थिति है। मानव के शरीर में विद्यमान पंचभूतों का मिल जाना भवन निर्माण के लिए सामग्री एकत्रित हो जाने के समान है। पंचभूतों के सम्मिश्रण मात्र से मानव से मानव पिण्ड उभर कर नहीं आ पाता, किन्तु वे पंचभूत आत्मा के संयोग को पाकर मानवीय शरीर में ढलने लगते हैं। आत्मा की शक्ति

शरीर के अंग-प्रत्यंग के साथ जुड़ी रहती है। अंग-प्रत्यंग से होने-वाली प्रवृति चेतना की शक्ति के द्वारा ही हो सकती है। बिना चेतना के शरीर प्रवृति कर ही नहीं सकता। चेतना से संबंधित शरीर का सही रूप तैयार हो जाना मानव अवस्था पा जाना है। मानव जीवन की प्राप्ति के अनन्तर मानवीय वृति के अनुसार प्रवृति होना आवश्यक है।

आजकल मानव की वृति विभिन्न प्रकार की परिलक्षित होती है। मानव देह में रह कर भी कई मानव दानवीय वृति वाले भी देखे जाते हैं। निपट स्वार्थ की पूर्ति में लगे रहना, स्वार्थ पूर्ति के लिये अन्य का कितना ही अहित हो, उसे बिना हिचक कर डालना दानवीय वृति है। मानव (शरीर) में रहने वाली यह दानवीय वृति मानवता को क्षत-विक्षत कर पतन के गर्त में ढकेल देती है। पाशविक वृति भी मानव देह में यत्र-तत्र परिलक्षित होती है।

आत्मभाव, परमात्म-भाव, अध्यात्म भाव आदि स्थितियों पर पहुँचने से पहले यह आवश्यक है कि उसमें मानवता की वृति आवे। यदि एक मानव दूसरे मानव से प्रेम करना नहीं सीखेगा तो वह क्या भाव जगा सकेगा? अतः आत्म-भाव में परमात्म-भाव जागृत करने के लिये मानव को सबसे पहले अपने निज गुण, मानवता को जागृत करना चाहिए। □

# बच्चों की चरित्र हीनता का मूल कारण

आजकल बालकों एवं युवकों के चारित्रिक पतन को देखकर विचार आता है कि आखिर इस पतन का मूलभूत कारण क्या है? निमित्त एवं उपादान कारणों की दृष्टि से विचार किया जाए तो उपादान कारण तो वे स्वयं ही होते हैं, किन्तु निमित्त कारण अनेक हो सकते हैं। निमित्त कारण ही उपादान को पुष्ट बनाने वाले होते हैं। किसी व्यक्ति की मृत्यु का समय बहुत सन्निकट है, तभी उसे किसी ने गोली मार दी और वह मर गया। यहाँ उपादान कारण तो वह स्वयं ही है, किन्तु निमित्त कारण दूसरा बन गया है। विचार यही आता है कि यदि अमुक व्यक्ति गोली नहीं मारता तो वह व्यक्ति नहीं मरता। ठीक इसी प्रकार बालकों एवं युवकों के चारित्रिक पतन विषयक निमित्त कारणों की खोज में सबसे पहले बच्चे के माता-पिता पर दृष्टि जाती है। बच्चे को सुसंस्कारयुक्त और चारित्रनिष्ठ बनाने के लिये माता-पिता का जीवन संस्कारित होना एवं चारित्रनिष्ठ होना आवश्यक है। माता-पिता के जीवन का प्रभाव बच्चे पर पड़े बिना नहीं रहता।

बच्चे का जीवन उस स्वच्छ श्याम पट्ट (ब्लेक बोर्ड) की तरह होता है, जिसपर चॉक से कुछ भी अंकित किया जा सकता है। बच्चे का जीवन उस मिट्टी की तरह है जिस को किसी भी प्रकार का आकार दिया जा सकता है। संस्कार निर्माण का कार्य बचपन से ही नहीं अपितु गर्भ से ही प्रारम्भ हो जाता है। जबसे बच्चा गर्भ में आता है तभी से उस पर माता के विचारों का प्रभाव पड़ने लगता है। इतिहास इस बात को स्पष्ट करता है। अभिमन्यु ने महाभारत युद्ध में जो चक्र-व्यूह का भेदन किया था, वह चक्रव्यूह भेदन की प्रक्रिया उसने गर्भ में सीखी थी। माता को नींद आ जाने से पूरी बात वह नहीं सुन सका। फलस्वरूप अभिमन्यु ने चक्रव्यूह का भेदन तो कर दिया, किन्तु निकलने की प्रक्रिया ज्ञान न होने के कारण वह बाहर नहीं आ सका।

यह घटना स्पष्ट करती है कि गर्भ में ही बच्चे पर माता के संस्कारों का प्रभाव पड़ने लगता है। जब बच्चा गर्भ से बाहर आता है, नई सृष्टि में अवतरण लेता है, उस समय उसके जीवन के साथ माता-पिता का ही अधिक सम्पर्क रहता है। बच्चे का जीवन माता-पिता के जीवन के अनुसार ही ढलने लगता है। उसमें अनुकरण की वृत्ति अधिक होती है। जैसा दूसरे को करते देखेगा, वैसा ही वह भी करने लगेगा। अतः बचपन में ही बच्चे को सुसंस्कारित बनाने के लिये माता-पिता का जीवन चित्र बच्चों की आँखों के सामने चरित्र-निष्ठ एवं सुसंस्कारित आना चाहिये। आधुनिक दौड़ में दौड़नेवाला दम्पति यह सोच बैठता है कि यह तो बच्चा है, अभी क्या समझता है और उसकी उपेक्षा कर दी जाती है। इस उपेक्षा का बहुत घातक परिणाम सामने है। आज बच्चों की चरित्रहीनता का यह एक बड़ा कारण है।

इतिहास प्रसिद्ध वनराज चावड़ा की घटना इस बात की साक्षी है। वनराज चावड़ा के भुजबल को देख कर जनमानस अत्यधिक प्रभावित हुआ था। उसके भुजबल का कारण बतलाते हुए चावड़ा के पिता ने कहा था कि बच्चे को बलिष्ठ एवं चरित्र-निष्ठ बनाने में माता-पिता के संस्कार मूलभूत कारण हैं। जब वनराज बच्चा था, पालने में झूलता था, उस समय की घटना है। मैंने अपनी पत्नी से कोई अशोभनीय मजाक कर ली। पत्नी ने कहा—आप क्या कर रहे हैं? अन्य पुरुषों के सामने ऐसा करना योग्य नहीं है। मैंने पूछा—यहाँ अन्य पुरुष कौन है? तो उसने पालने में झूलते वनराज की ओर इशारा किया। मैंने उपहास के साथ यह क्या समझता है कहते हुए पत्नी का हाथ पकड़ लिया। यह घटना पालने में सोया हुआ वनराज देख रहा था। उसने यह देखकर अपना मुँह मोड़ लिया। बस इतनी-सी बात से वनराज की माता को इतनी अधिक ग्लानि हुई कि जीभ खींच कर तत्क्षण अपना प्राणान्त कर लिया।

यह घटना इस बात को स्वच्छ दर्पण की तरह प्रतिबिम्बित कर रही है कि माता-पिता के जीवन प्रसंगों का बच्चों पर कैसा प्रभाव

पड़ता है। आज के माता-पिता चाहते हैं कि बच्चे का जीवन उन्नत एवं संस्कारशील होना चाहिये, किन्तु यह नहीं सोच पाते कि पहले हमें अपने जीवन को संस्कारित करना है।

बच्चों को संस्कारित एवं शक्ति सम्पन्न बनाने के लिये माता-पिता को कितना त्याग करना पड़ता है। वीर हनुमान की हम घटनाएं सुनते एवं पढ़ते हैं। हनुमान कितने शक्तिशाली थे। अपने भुजबल से वे दुःसाध्य कार्य को भी पूर्ण करने में समर्थ थे। हनुमान की इस शक्ति के पीछे भी माता-पिता की बहुत बड़ी चारित्रिक साधना छिपी हुई है। पिता पवन एवं माता अंजना के निरन्तर (लगभग) बारह वर्ष के ब्रह्मचर्य पालन का ही यह प्रभाव था कि हनुमान इस आश्चर्य पैदा करनेवाली शक्ति से सम्पन्न हुए। आज के माता-पिता विनाश के जिस कगार पर खड़े हैं, वह एक गहरा चिन्तनीय विषय है। किंपाक के वृक्ष से आम-फल की इच्छा निष्फल होती है। किंपाक का वृक्ष कभी भी आम नहीं दे सकता। इसी प्रकार संस्कारहीन विलासी दम्पति का जीवन कभी भी राष्ट्र को योग्य संतान नहीं दे सकता। संतति से जैसी अपेक्षा की जाती है, वैसा स्वयं को बनना आवश्यक है। बच्चों के संस्कार निर्माण एवं चरित्र उत्थान की प्राथमिक भूमिका में माता-पिता के बाद अध्ययन काल में शिक्षकों की भूमिका होती है। अध्यापकों का जीवन भी आदर्श होना आवश्यक है। साथ ही वायुमण्डल भी स्वच्छ होना आवश्यक है।

पुष्प को खिलने के लिये सबसे पहले योग्य बीज बाद में सिंचन की आवश्यकता होती है। तदनन्तर रक्षण एवं अनुकूल वायुमण्डल हो, तभी पुष्प खिल सकता है। नन्हें-नन्हें बच्चों के सुविकास हेतु जिस प्रकार सिंचन रूप माता-पिता की आवश्यकता है, ठीक उसी प्रकार स्वच्छ वातावरण की भी आवश्यकता है।

आज के विलासी एवं अश्लील वायुमण्डल में बच्चे को सुसंस्कारी बनाना दुःसाध्य है। अतः नई पीढ़ी को संस्कारित एवं चारित्रिक बनाना है तो अवश्य ही अपने आप में नया मोड़ लाना होगा। वातावरण में परिवर्तन करना होगा, जीवन में क्रांति लानी होगी। □